



કે
જન

પરમ્પરા
વકા

ઇતિહાસ

યુવાચાર્ય મહાપ્રજ્ઞ

जैन परम्परा का इतिहास

[युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ (मुनि नथमल) द्वारा लिखित
'जैन दर्शन : मनन और मीमांसा' के प्रथम खंड से
संकलित/संपादित]

युवाचार्य महाप्रज्ञ

जैन विश्व भारती प्रकाशन

संपादक : मुनि सुमेरमल 'सुदर्शन'

**प्रकाशक : समण संस्कृति संकाय,
जैन विश्व भारती,
लाडनू-३४१३०६ (राजस्थान)**

पंचम संस्करण : १९८८

**आर्थिक सौजन्य : टी० ओकचन्द गदैया एण्ड सन्स
रामसिंहजी का गूढा (चिकमंगलूर)**

मूल्य : ६.०० रुपये

**मुद्रक : मित्र परिषद् कलकत्ता के आर्थिक सौजन्य से स्थापित
जैन विश्व भारती प्रेस, लाडनू-३४१३०६**

सम्पादकीय

युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ की बहुचर्चित पुस्तक 'जैन दर्शन: मनन और मीमांसा' के पांच खण्ड हैं। उनका पहला खण्ड है—परम्परा और कालचक्र। उस खण्ड के कुछेक विस्तार और टिप्पणों को छोड़ कर यह पुस्तक तैयार की गई है। इसमें मूल विषयों के अतिरिक्त जैन राजा, जैन परम्परा के विशिष्ट आचार्य, जैन परम्परा के विशिष्ट स्थल, विदेशों में जैन धर्म, भारत के विभिन्न अंचलों में जैन धर्म, आदि विषयों का समावेश किया गया है।

जैन परम्परा के विविध पहलुओं को समझने में यह पुस्तक विद्यार्थियों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी, इसी आशा के साथ—

—सम्पादक

अनुक्रम

१. भगवान् ऋषभ से पार्श्व तक	१
२. भगवान् महावीर	२२
३. भगवान् महावीर की उत्तरकालीन परम्परा	५८
४. जैन साहित्य	७२
५. जैन संस्कृति	९२
६. चिन्तन के विकास में जैन आचार्यों का योग	१२६

भगवान् ऋषभ से पार्श्व तक

शाश्वत प्रश्न और जैन दर्शन

हम जिस जगत् में जी रहे हैं वह क्या है ? वह कहां है ? वह कब से है ? वह एक-रूपी है या बहुरूपी ? वह किसकी रचना है ? ये प्रश्न अनादिकाल से मनुष्य के मन को आलोडित करते रहे हैं । मनुष्य इन्हीं प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए दर्शन की वेदी तक पहुंचा है ।

दर्शन देखने की पद्धति है । हम वस्तु को दो साधनों से देखते हैं । पहला साधन है—प्रत्यक्षीकरण या साक्षात्कार और दूसरा साधन है—हेतुवाद ।

ध्यान-सिद्ध मनुष्य विश्व को अन्तर्दृष्टि से देखता है । बौद्धिक मनुष्य उसे तार्किक दृष्टि से देखता है । अन्तर्दृष्टि वैयक्तिक साधन से फलित ज्ञान है । इसलिए उसके अध्ययन की कोई प्रक्रिया नहीं है । तर्क मनुष्य के ऐन्द्रियिक अनुभवों [साहचर्य नियमों] से फलित ज्ञान है । वह सामूहिक बोध है, इसलिए अध्ययन की प्रक्रिया है ।

अन्तर्दृष्टि से दृष्ट तत्त्वों का प्रतिपादक शास्त्र दर्शन-शास्त्र कहलाता है । तार्किक ज्ञान से उपलब्ध तत्त्वों तथा तार्किक प्रक्रिया का प्रतिपादक शास्त्र तर्कशास्त्र कहलाता है ।

आज दोनों प्रकार के शास्त्र बहुत एकात्मक हो गए हैं । अतः दर्शनशास्त्र शब्द से उन दोनों का बोध होता है ।

भगवान् महावीर अन्तर्दृष्टा थे । उनके उत्तरवर्ती आचार्य तार्किक प्रतिभा के धनी थे । आज का जैन दर्शन उन दोनों के निरूपण का प्रतिफलन है ।

जैन दर्शन ने उन शाश्वत प्रश्नों का उत्तर दिया है :

१. यह जगत् चेतन और अचेतन द्रव्यों का समवाय है ।
२. यह अनन्त आकाश का मध्यवर्ती आकाश खंड है । समग्र आकाश की तुलना में यह एक बिन्दु जैसा है ।
३. यह शाश्वत है । इसका आदि-बिन्दु नहीं है ।

४. यह परिवर्तनशील भी है—प्रतिदिन नये-नये रूपों में बदलता रहता है ।

५. यह अनादि है, इसलिए किसी महाशक्ति की कृति नहीं है । तत्त्व-मीमांसा के प्रसंग में इन प्रश्नों पर विस्तार से चर्चा की जाएगी । इतिहास खंड में केवल इतना ही प्रासंगिक है कि हमारा जगत् शाश्वत और अशाश्वत का सामंजस्य है ।

भगवान् महावीर ने स्कंदक संन्यासी से कहा था—‘स्कंदक ! ऐसा कोई क्षण न था, न है और न होगा जिसमें इस जगत् का अस्तित्व न हो ।’ यह अस्तित्व की दृष्टि से जगत् की शाश्वता का प्रतिपादन है ।

भगवान् ने जमालि से कहा था—‘जमालि ! इस जगत् में कालचक्र गतिशील रहता है—अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी का क्रम चालू रहता है । फलतः जगत् का आंचलिक स्वरूप बदलता रहता है ।’ यह परिवर्तन की दृष्टि से जगत् की अशाश्वतता का प्रतिपादन है । ऐतिहासिक अध्ययन के लिए जगत् का परिवर्तनशील रूप ही हमारे लिए उपयोगी है ।

कालचक्र

कालचक्र जागतिक ह्रास और विकास के क्रम का प्रतीक है । काल का पहिया नीचे की ओर जाता है तब भौगोलिक परिस्थिति तथा मानवीय सभ्यता और संस्कृति ह्रासोन्मुखी होती है । काल का पहिया जब ऊपर की ओर आता है तब वे विकासोन्मुखी होती हैं ।

काल की इस ह्रासोन्मुखी गति को अवसर्पिणी और विकासोन्मुखी गति को उत्सर्पिणी कहा जाता है ।

अवसर्पिणी में वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, संहनन, संस्थान, आयुष्य, शरीर, सुख आदि पर्यायों की क्रमशः अवनति होती है ।

उत्सर्पिणी में उक्त पर्यायों की क्रमशः उन्नति होती है । वह अवनति और उन्नति सामूहिक होती है, वैयक्तिक नहीं होती ।

अवसर्पिणी की चरम सीमा ही उत्सर्पिणी का आरंभ है और उत्सर्पिणी का अन्त अवसर्पिणी का जन्म है । प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के छह-छह विभाग [पर्व] होते हैं ।

अवसर्पिणी के छह विभाग :

- | | |
|----------------|-----------------|
| १. सुषम-सुषमा | ४. दुःषम-सुषमा |
| २. सुषमा | ५. दुःषमा |
| ३. सुषम-दुःषमा | ६. दुःषम-दुःषमा |
- उत्सर्पिणी के छह विभाग इस व्यतिक्रम से होते हैं :
- | | |
|----------------|----------------|
| १. दुःषम-दुषमा | ४. सुषम-दुःषमा |
| २. दुःषमा | ५. सुषमा |
| ३. दुःषम-सुषमा | ६. सुषम-सुषमा |

१. सुषम-सुषमा

आज हम अवसर्पिणी के पांचवे पर्व—दुःषमा में जी रहे हैं। हमारे युग का जीवन-क्रम सुषम-सुषमा से शुरू होता है। उस समय भूमि स्निग्ध थी। वर्ण, गंध, रस और स्पर्श अत्यन्त मनोज्ञ थे। मिट्टी की मिठास आज की चीनी से अनन्त गुना अधिक थी। कर्म-भूमि थी, किन्तु अभी कर्मयुग का प्रवर्तन नहीं हुआ था। पदार्थ अति स्निग्ध थे। इस युग के मनुष्य तीन दिन के अन्तर से अरहर की दाल जितनी-सी वनस्पति खाते और तृप्त हो जाते। खाद्य पदार्थ अप्राकृतिक नहीं थे। विकार बहुत कम थे इसलिए उनका जीवन-काल बहुत लंबा होता था। वे तीन पल्य तक जीते थे। अकाल-मृत्यु कभी नहीं होती थी। वातावरण की अत्यन्त अनुकूलता थी। उनका शरीर तीन गाऊ ऊंचा था। वे स्वभाव से शांत और संतुष्ट होते थे। यह चार कोटि-कोटि सागर [काल का काल्पनिक परिमाण] का एकान्त सुखमय पर्व बीत गया।

२. सुषमा

तीन कोटि-कोटि सागर का दूसरा सुखमय पर्व शुरू हुआ। इसमें भोजन दो दिन के अन्तर से होने लगा। उसकी मात्रा बेर के फल जितनी हो गई। जीवनकाल दो पल्य का हो गया और शरीर की ऊंचाई दो गाऊ की रह गई। इनकी कमी का कारण था भूमि और पदार्थों की स्निग्धता की कमी।

३. सुषम-दुःषमा

काल और आगे बढ़ा। तीसरे सुख-दुःखमय पर्व में और कमी आ गई। एक दिन के अन्तर से भोजन होने लगा। उसकी मात्रा आंवला के समान हो गई। जीवन का काल-मान एक पल्य हो गया।

शरीर की ऊंचाई एक गाऊ की हो गई। इस युग की काल-मर्यादा थी—दो कोटि-कोटि सागर। इसके अंतिम चरण में पदार्थों की स्निग्धता में बहुत कमी हुई। सहज नियमन टूटने लगे। तब कृत्रिम अवस्था आयी और इसी समय कुलकर-व्यवस्था को जन्म मिला।

यह कर्म-युग के शैशव-काल की कहानी है। समाज-संगठन अभी नहीं हुआ था। यौगलिक व्यवस्था चल रही थी। एक जोड़ा ही सब कुछ होता था। न कुल था, न वर्ग और न जाति। समाज और राज्य की बात बहुत दूर थी। जनसंख्या कम थी। माता-पिता की मौत से छह माह पहले एक युगल जन्म लेता, वही दम्पति होता। विवाह संस्था का उदय नहीं हुआ था। जीवन की आवश्यकता बहुत सीमित थी। न खेती होती थी, न कपड़ा बनता था और न मकान बनते थे। भोजन, वस्त्र और निवास के साधन कल्पवृक्ष थे। श्रृंगार और आमोद-प्रमोद, विद्या, कला और विज्ञान का कोई नाम नहीं जानता था। न कोई वाहन था और न कोई यात्री। गांव वसे नहीं थे। न कोई स्वामी था और न सेवक। शासक शासित भी नहीं थे। न कोई शोषक था और न कोई शोषित। पति-पत्नी या जन्य-जनक के सिवा सम्बन्ध जैसी कोई वस्तु नहीं थी।

धर्म और उसके प्रचारक भी नहीं थे। उस समय के लोग सहज धर्म के अधिकारी और शांत स्वभाव वाले थे। चुगली, निंदा, आरोप जैसे मनोभाव जन्मे ही नहीं थे। हीनता और उत्कर्ष की भावनाएं भी उत्पन्न नहीं हुई थीं। लड़ने-झगड़ने की मानसिक ग्रंथियां भी नहीं थीं। वे शस्त्र और शास्त्र दोनों से अनजान थे।

अब्रह्मचर्य सीमित था। मार-काट और हत्या नहीं होती थी। न संग्रह था, न चोरी और न असत्य। वे सदा सहज आनन्द और शांति में लीन रहते थे।

कालचक्र का पहला भाग बीता। दूसरा और तीसरा भी लगभग बीत गया।

सहज समृद्धि का क्रमिक ह्रास होने लगा। भूमि का रस जो चीनी से अनंत गुना मीठा था, वह कम होने लगा। उसके वर्ण, गंध और स्पर्श की श्रेष्ठता भी कम हुई।

युगल मनुष्यों के शरीर का परिमाण भी घटता गया। तीन, दो और एक दिन के बाद भोजन करने की परंपरा भी टूटने लगी।

कल्प-वृक्षों की शक्ति भी क्षीण हो चली ।

यह यौगलिक व्यवस्था के अन्तिम दिनों की कहानी है ।

कुलकर-व्यवस्था

असंख्य वर्षों के बाद नये युग का आरम्भ हुआ । यौगलिक व्यवस्था धीरे-धीरे टूटने लगी । दूसरी कोई व्यवस्था अभी जन्म नहीं पाई । सत्रांति काल चल रहा था । एक ओर आवश्यकता-पूर्ति के साधन कम हुए तो दूसरी ओर जनसंख्या और जीवन की आवश्यकताएं कुछ बढ़ीं । इस स्थिति में आपसी संघर्ष और लूट-खसोट होने लगी । परिस्थिति की विवशता ने क्षमा, शांति, सौम्य आदि सहज गुणों में परिवर्तन ला दिया । अपराधी मनोवृत्ति का बीज अंकुरित होने लगा ।

अपराध और अव्यवस्था ने उन्हें एक नयी व्यवस्था के निर्माण की प्रेरणा दी । उसके फलस्वरूप 'कुल' व्यवस्था का विकास हुआ । लोग 'कुल' के रूप में संगठित होकर रहने लगे । उन कुलों का एक मुखिया होता, वह 'कुलकर' कहलाता । उसे दंड देने का अधिकार होता । वह सब कुलों की व्यवस्था करता, उनकी सुविधाओं का ध्यान रखता और लूट-खसोट पर नियंत्रण रखता । यह शासन-तंत्र का ही आदि-रूप था ।

मनुष्य प्रकृति से पूरा भला ही नहीं होता और पूरा बुरा ही नहीं होता । उसमें भलाई और बुराई दोनों के बीज होते हैं । परिस्थिति का योग पा वे अंकुरित हो उठते हैं । देश, काल, पुरुषार्थ, कर्म और नियति के योग की सह-स्थिति का नाम है—परिस्थिति । वह व्यक्ति की स्वभावगत वृत्तियों की उत्तेजना का हेतु बनती है । उससे प्रभावित व्यक्ति बुरा या भला बन जाता है ।

जीवन की आवश्यकताएं कम थीं । उसके निर्वाह के साधन सुलभ थे । उस समय मनुष्य को संग्रह करने और दूसरों द्वारा अधिकृत वस्तु को हड़पने की बात नहीं सूझी । इसके बीज उसमें थे, पर उन्हें अंकुरित होने का अवसर नहीं मिला । ज्यों ही जीवन की थोड़ी आवश्यकताएं बढ़ीं, उसके निर्वाह के साधन कुछ दुर्लभ हुये कि लोगों में संग्रह और अपहरण की भावना उभर आयी । जब तक लोग स्वयं शासित थे, तब तक बाहर का शासन नहीं था । जैसे-जैसे स्वगत शासन टूटता गया, वैसे-वैसे बाहरी शासन बढ़ता गया । यह

कार्य कारणवाद या एक के चले जाने पर दूसरे के विकसित होने की कहानी है।

कुलकर सात हुये हैं। उनके नाम हैं—विमलवाहन, चक्षुष्मान्, यशस्वी, अभिचन्द्र, प्रसेनजित, मरुदेव व नाभि।

राजतन्त्र और दण्डनीति

कुलकर व्यवस्था में तीन दण्ड-नीतियां प्रचलित हुईं। पहले कुलकर विमलवाहन के समय में 'हाकार' नीति का प्रयोग हुआ। उस समय के मनुष्य स्वयं अनुशासित और लज्जाशील थे। 'हा! तुने यह क्या किया'—ऐसा कहना गुस्तर दण्ड था।

दूसरे कुलकर चक्षुष्मान् के समय भी यही नीति चली। तीसरे और चौथे—यशस्वी और अभिचन्द्र कुलकर के समय में छोटे अपराध के लिए 'हाकार' और बड़े अपराध के लिए 'माकार' [मत करो] नीति का प्रयोग किया गया।

पांचवें, छठे और सातवें—प्रसेनजित, मरुदेव और नाभि कुलकर के समय में 'धक्कार' नीति चली। छोटे अपराध के लिए 'हाकार' मध्यम अपराध के लिए 'माकार' और बड़े अपराध के लिए 'धक्कार' नीति का प्रयोग किया गया। उस समय के मनुष्य अतिमात्र ऋजु, मर्यादा-प्रिय और स्वयं-शासित थे। खेद-प्रदर्शन, निषेध और तिरस्कार—ये मृत्यु-दण्ड से अधिक होते।

अभी नाभि का नेतृत्व चल ही रहा था। युगलों को जो कल्पवृक्षों से प्रकृतिसिद्ध भोजन मिलता था, वह अपर्याप्त हो गया। जो युगल शांत और प्रसन्न थे, उनमें क्रोध का उदय होने लगा। वे आपस में लड़ने-भगड़ने लगे। धक्कार नीति का उल्लंघन होने लगा। जिन युगलों ने क्रोध, लड़ाई जैसी स्थितियां कभी न देखीं और न कभी सुनीं—वे इन स्थितियों से घबरा गये। वे मिले, ऋषभ-कुमार के पास पहुंचे और मर्यादा के उल्लंघन से उत्पन्न स्थिति का निवेदन किया। ऋषभ ने कहा—'इस स्थिति पर नियंत्रण पाने के लिए राजा की आवश्यकता है।'

'राजा कौन होता है?' युगलों ने पूछा।

ऋषभ ने राजा का कार्य समझाया। शक्ति के केन्द्रीकरण की कल्पना उन्हें दी। युगलों ने कहा—'हममें आप सर्वाधिक समर्थ हैं। आप ही हमारे राजा बनें।'

ऋषभकुमार बोले—‘आप मेरे पिताजी नाभि के पास जाइये, उनसे राजा की याचना कीजिए। वे आपको राजा देंगे।’ वे चले, नाभि को सारी स्थिति से परिचित कराया। नाभि ने ऋषभ को उनका राजा घोषित किया। वे प्रसन्न हो लौट गये।

ऋषभ का राज्याभिषेक हुआ। उन्होंने राज्य-संचालन के लिए नगर बसाया। वह बहुत विशाल था। उसका नाम रखा विनीता-अयोध्या। ऋषभ प्रथम राजा बने। शेष जनता प्रजा बन गई। वे प्रजा का अपनी संतान की भांति पालन करने लगे। गांवों और नगरों का निर्माण हुआ। लोग अरण्य-वास से हट भवनवासी बन गये। ऋषभ की क्रांतिकारी और जन्मजात प्रतिभा से लोग नये युग के निर्माण की ओर चल पड़े। उन्होंने राज्य की समृद्धि के लिए गायों, घोड़ों और हाथियों का संग्रह किया। असाधु लोगों पर शासन और साधु लोगों की सुरक्षा के लिए उन्होंने अपना मंत्रिमण्डल बनाया।

चोरी, लूट-खसोट न हो, नागरिक जीवन व्यवस्थित रहे— इसके लिए उन्होंने आरक्षक-दल स्थापित किया।

राज्य की शक्ति को कोई चुनौती न दे सके, इसलिए उन्होंने चतुरंग सेना और सेनापतियों की व्यवस्था की।

साम, दाम, भेद और दण्ड-नीति का प्रवर्तन हुआ।

ऋषभ की दण्ड-व्यवस्था के चार अंग थे—

१. **परिभाषक**—थोड़े समय के लिए नजरबन्द करना—क्रोध-पूर्ण शब्दों में अपराधी को ‘यहीं बैठ जाओ’ का आदेश देना।

२. **मण्डलिबन्ध**—नजरबन्द करना—नियमित क्षेत्र से बाहर न जाने का आदेश देना।

३. **बन्ध**—बंधन का प्रयोग।

४. **घात**—डंडे का प्रयोग।

औषध को व्याधि का प्रतिकार माना जाता है, वैसे ही दण्ड अपराध का प्रतिकार माना जाने लगा। इन नीतियों में राजतन्त्र जमने लगा और अधिकारी चार भागों में बंट गये। आरक्षक वर्ग के सदस्य ‘उग्र’, मंत्री परिषद् के सदस्य ‘भोज’, परामर्शदात्री समिति के सदस्य या प्रान्तीय प्रतिनिधि ‘राजन्य’ और शेष कर्मचारी ‘क्षत्रिय’ कहलाए।

ऋषभ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को अपना उत्तराधिकारी चुना। यह क्रम राजतन्त्र का अंग बन गया। यह युगों तक विकसित होता रहा।

विवाह-पद्धति का प्रारंभ

नाभि अन्तिम कुलकर थे। उनकी पत्नि का नाम था 'मरुदेवा'। उनके पुत्र का जन्म हुआ। उसका नाम रखा गया 'उसभ' या 'ऋषभ'। इनका शैशव बदलते हुए युग का प्रतीक था। युगल के एक साथ जन्म लेने या मरने की सहज-व्यवस्था भी शिथिल हो गई। उन्हीं दिनों एक युगल जन्मा। उसके माता-पिता ने उसे ताड़ के वृक्ष के नीचे सुला दिया। वृक्ष का फल बच्चे के सिर पर गिरा और वह मर गया। उस युग की यह पहली अकाल मृत्यु थी। अब वह बालिका अकेली रह गयी। थोड़े समय बाद उसके माता-पिता मर गये। उस एक अकेली बालिका को अन्य युगलों ने आश्चर्य की दृष्टि से देखा। वे उसे कुलकर नाभि के पास ले गये। नाभि ने उसे ऋषभ की पत्नी के रूप में स्वीकार कर लिया। ऋषभ युवा हो गये। उन्होंने अपनी सहोदरी सुमंगला के साथ सुनन्दा को स्वयं ब्याहा। यहीं से विवाह-पद्धति का उदय हुआ। इसके बाद लोग अपनी सहोदरी के अतिरिक्त भी दूसरी कन्याओं से विवाह करने लगे।

खाद्य-समस्या का समाधान

कुलकर युग में लोगों की भोजन-सामग्रियों थी—कन्द, मूल, पात्र पुष्प और फल। बढ़ती जनसंख्या के लिए कन्द आदि पर्याप्त नहीं रहे और वनवासी लोग गृहस्वामी होने लगे। इससे पूर्व प्राकृतिक वनस्पति पर्याप्त थी। अब बोए हुए बीज से अनाज होने लगा।

वे पकाना नहीं जानते थे। और न उनके पास पकाने का कोई साधन था। वे कच्चा अनाज खाते थे। समय बदला। कच्चा अनाज दुष्पाच्य हो गया। लोग ऋषभ के पास पहुँचे और अपनी समस्या का समाधान मांगा। ऋषभ ने अनाज को हाथों से घिसकर खाने की सलाह दी। लोगों ने वैसा ही किया। कुछ समय बाद वह विधि भी असफल होने लगी। ऋषभ अग्नि की बात जानते थे। किन्तु वह काल एकान्त स्निग्ध था। वैसे काल में अग्नि उत्पन्न हो नहीं सकती। एकान्त स्निग्ध और एकान्त रूक्ष—दोनों काल अग्नि की उत्पत्ति के योग्य नहीं होते।

समय के चरण आगे बढ़े। काल स्निग्ध-रुक्ष बना, तब वृक्षों की टक्कर से अग्नि उत्पन्न हुई। वह फैली। वन जलने लगे। लोगों ने उस अग्नि को देखा और उसकी सूचना ऋषभ को दी। उन्होंने अग्नि का उपयोग और पाक-विद्या का प्रशिक्षण दिया। खाद्य-समस्या का समाधान हो गया।

शिल्पकला और व्यवसाय का प्रशिक्षण

ऋषभ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को ७२ कलाएं सिखलाईं। कनिष्ठ पुत्र बाहुबलि को प्राणी की लक्षण-विद्या का उपदेश दिया। बड़ी पुत्री ब्राह्मी को अठारह लिपियों और सुन्दरी को गणित का अध्ययन कराया। धनुर्वेद, अर्थशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, क्रीड़ा-विधि आदि-आदि विद्याओं का प्रवर्तन कर लोगों को सुव्यवस्थित और सुसंस्कृत बना दिया।

अग्नि की उत्पत्ति ने विकास का स्रोत खोल दिया। पात्र, औजार, वस्त्र, चित्र आदि शिल्पों का जन्म हुआ। अन्नपाक के लिए पात्र-निर्माण आवश्यक हुआ। कृषि, गृह-निर्माण आदि के लिए औजार आवश्यक थे, इसलिए लौहकार-शिल्प का आरम्भ हुआ। सामाजिक जीवन ने वस्त्र-शिल्प और गृह-शिल्प को जन्म दिया।

नख, केश आदि काटने के लिए नापित-शिल्प (क्षौर-कर्म) का प्रवर्तन हुआ। इन पांचों शिल्पों का प्रवर्तन आग की उत्पत्ति के बाद हुआ।

पदार्थों के विकास के साथ-साथ उनके विनिमय की आवश्यकता अनुभूत हुई। उस समय ऋषभ ने व्यवसाय का प्रशिक्षण दिया।

कृषिकार, व्यापारी और रक्षक-वर्ग भी अग्नि की उत्पत्ति के बाद बने। कहा जा सकता है—अग्नि ने कृषि के उपकरण, आयात-निर्यात के साधन और अस्त्र-शस्त्रों को जन्म दे मानव के भाग्य को बदल दिया।

पदार्थ बढ़े तब परिग्रह में ममता बढ़ी, संग्रह होने लगा। कौटुम्बिक ममत्व भी बढ़ा। लोकैषणा और धनैषणा के भाव जाग उठे।

सामाजिक परम्पराओं का सूत्रपात

पहले मृतकों की दाहक्रिया नहीं की जाती थी, अब लोग मृतकों को जलाने लगे। पहले पारिवारिक ममत्व नहीं था, अब वह

विकसित हो गया। इसलिए मृत्यु के बाद लोग रोने लगे। उसकी स्मृति में वेदी और स्तूप बनाने की प्रथा भी चल पड़ी। नाग-पूजा और अन्य कई उत्सव भी लोग मनाने लगे।

इस प्रकार समाज में कुछ परम्पराओं ने जन्म ले लिया।

कर्त्तव्य-बुद्धि से लोक-व्यवस्था का प्रवर्तन कर ऋषभ राज्य करने लगे। बहुत लम्बे समय तक वे राजा रहे। जीवन के अंतिम भाग में वे राज्य त्यागकर मुनि बने। मोक्ष धर्म का प्रवर्तन हुआ। हजार वर्ष की साधना के बाद भगवान् ऋषभ को कैवल्य-लाभ हुआ। साधु साध्वी, श्रावक, श्राविका—इन चार तीर्थों की स्थापना की। मुनि-धर्म के पांच महाव्रत और गृहस्थ-धर्म के बारह व्रतों का उपदेश दिया। साधु-साधवियों का संघ बना। श्रावक-श्राविकाएं भी बनीं।

साम्राज्य-लिप्सा

भगवान् ऋषभ कर्मयुग के पहले राजा थे। अपने सौ पुत्रों को अलग-अलग राज्यों का भार सौंप वे मुनि बन गए। सबसे बड़ा पुत्र भरत था। वह चक्रवर्ती सम्राट् बनना चाहता था। उसने अपने ६८ भाइयों को अपने अधीन करना चाहा। सबके पास दूत भेजे। ६८ भाई मिले। आपस में परामर्श कर भगवान् ऋषभ के पास पहुंचे। सारी स्थिति भगवान् ऋषभ के सामने रखी। दुविधा की भाषा में पूछा—‘भगवन् ! क्या करें ? बड़े भाई से लड़ना नहीं चाहते और अपनी स्वतंत्रता को खोना भी नहीं चाहते। भाई भरत ललचा गया है। आपके दिये हुये राज्य को वह हमसे वापस लेना चाहता है। हम उससे लड़ें तो भ्रातृ-युद्ध की गलत परम्परा पड़ जाएगी। बिना लड़े राज्य सौंप दें तो साम्राज्य का रोग बढ़ जाएगा। परमपिता ! इस दुविधा से उबारिये।’

भगवान् ने कहा—‘पुत्रो ! तुमने ठीक सोचा। लड़ना भी बुरा है और क्लीव होना भी बुरा है। राज्य दो पैरों वाला पक्षी है। उसका मजबूत पैर युद्ध है। उसकी उड़ान में पहले वेग होता है, अन्त में थकान। वेग में से चिनगारियां उछलती हैं। उड़ाने वाले लोग उसमें जल जाते हैं। उड़ने वाला चलता-चलता थक जाता है। शेष रहती है निराशा और अनुताप।

‘पुत्रो ! तुम्हारी समझ सही है। युद्ध बुरा है—विजेता के

लिए भी और पराजित के लिए भी। पराजित अपनी सत्ता को गंवाकर पछताता है और विजेता कुछ नहीं पाकर पछताता है। प्रतिशोध की चिंता जलाने वाला उसमें स्वयं न जले, यह कभी नहीं होता।

‘राज्य रूपी पक्षी का दूसरा पैर दुर्बल है। वह है कायरता। मैं तुम्हें कायर बनने की सलाह भी कैसे दे सकता हूँ? पुत्रो! मैं तुम्हें ऐसा राज्य देना चाहता हूँ जिसके साथ लड़ाई और कायरता की कड़ियाँ जुड़ी हुई नहीं हैं।’

भगवान् की आश्वासन-भरी वाणी सुन वे सारे खुशी से झूम उठे। आशा-भरी दृष्टि से एकटक भगवान् की ओर देखने लगे। भगवान् की भावना को वे नहीं पकड़ सके। भौतिक जगत् की सत्ता और अधिकारों से परे कोई राज्य हो सकता है—यह उनकी कल्पना में नहीं समाया। उनकी किसी विचित्र भू-खंड को पाने की लालसा तीव्र हो उठी। भगवान् इसलिए तो भगवान् थे कि उनके पास कुछ भी नहीं था। उत्सर्ग की चरम रेखा पर पहुंचने वाले ही भगवान् बनते हैं। संग्रह के चरम बिन्दु पर पहुंच कोई भगवान् बना हो—ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है।

भगवान् ने कहा—‘संयम का क्षेत्र निर्बाध राज्य है। इसे लो। न तुम्हें कोई अधीन करने आएगा और न वहां युद्ध और कायरता का प्रसंग होगा।’

पुत्रों ने देखा, पिता उन्हें राज्य त्यागने की सलाह दे रहे हैं। पूर्व-कल्पना पर पटाक्षेप हो गया। अकल्पित चित्र सामने आया। आखिर वे भी भगवान् के बेटे थे। भगवान् के मार्गदर्शन का सम्मान किया। राज्य को त्याग स्व-राज्य की ओर चल पड़े। स्व-राज्य की अपनी विशेषताएं हैं। इसे पाने वाला सब कुछ पा जाता है। राज्य की मोहकता तब तक रहती है, जब तक व्यक्ति स्व-राज्य की सीमा में नहीं चला आता। एक संयम के बिना व्यक्ति सब कुछ पाना चाहता है। संयम के पाने पर कुछ भी पाए बिना सब कुछ पाने की कामना नष्ट हो जाती है।

त्याग शक्तिशाली अस्त्र है। इसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है। भरत का आक्रामक दिल पसीज गया। वह दौड़ा-दौड़ा आया। अपनी भूल पर पछतावा हुआ। भाइयों से क्षमा मांगी। स्वतंत्रता-

पूर्वक अपना-अपना राज्य सम्भालने को कहा। किन्तु वे अब राज्य-लोभी सम्राट् भरत के भाई नहीं रहे थे। वे अकिंचन जगत् के भाई बन चुके थे। भरत का भ्रातृ-प्रेम अब उन्हें नहीं ललचा सका। वे उसकी लालची आंखों को देख चुके थे। इसलिए उसकी गीली आंखों का उन पर कोई असर नहीं हुआ। भरत हाथ मलते हुए घर लौट गया।

साम्राज्यवाद एक मानसिक प्यास है। वह उभरने के बाद सहसा नहीं बुझती। भरत ने एक-एक कर सारे राज्यों को अपने अधीन कर लिया। बाहुबलि को उसने नहीं छोड़ा। अट्टानवे भाइयों के राज-त्याग को वह अब भी नहीं भूला था। अन्तर्द्वन्द्व चलता रहा। एक छत्र राज्य का सपना पूरा नहीं हुआ। असंयम का जगत् ही ऐसा है, जहां सब कुछ पाने पर भी व्यक्ति को अकिंचनता की अनुभूति होती रहती है।

युद्ध का पहला चरण

दूत के मुंह से भरत का संदेश सुन बाहुबलि की भृकुटि तन गई। दबा हुआ रोष उभर आया। कांपते होठों से कहा—‘दूत ! भरत अब भी भूखा है ? अपने अट्टानवे सगे भाइयों का राज्य हड़पकर भी तृप्त नहीं बना ? हाय ! यह कैसी मनोदशा है ? साम्राज्यवादी के लिए निषेध जैसा कुछ होता ही नहीं। मेरा बाहुबल किससे कम है ? क्या मैं दूसरे राज्यों को नहीं हड़प सकता ? किन्तु यह मानवता का अपमान, शक्ति का दुरुपयोग और व्यवस्था का भंग है, मैं ऐसा कार्य नहीं कर सकता। व्यवस्था के प्रवर्तक हमारे पिता हैं। उनके पुत्रों को उसे तोड़ने में लज्जा का अनुभव होना चाहिये। शक्ति का प्राधान्य पशु-जगत् का चिह्न है। मानव-जगत् में विवेक का प्राधान्य होना चाहिए। शक्ति का सिद्धांत पनपा तो बच्चों और बूढ़ों का क्या बनेगा ? युवक उन्हें चट कर जायेंगे। रोगी, दुर्बल और अपंग के लिए यहां कोई स्थान नहीं रहेगा। फिर तो यह सारा विश्व रौद्र बन जाएगा। क्रूरता के साथी हैं—ज्वाला-स्फुलिंग, ताप और सर्वनाश। क्या मेरा भाई अभी-अभी समूचे जगत् को सर्वनाश की ओर धकेलना चाहता है ? आक्रमण एक उन्माद है। आक्रांता उससे बेभान हो दूसरों पर टूट पड़ता है।’

‘भरत ने ऐसा ही किया। मैं उसे चुप्पी साधे देखता रहा।

अब उस उन्माद के रोग का शिकार मैं हूँ। हिंसा से हिंसा की आग नहीं बुझती—यह मैं जानता हूँ। आक्रमण को अभिशाप मानता हूँ। किन्तु आक्रमणकारी को सहूँ—यह मेरी तितिक्षा^१ से परे है। तितिक्षा मनुष्य के उदात्त चरित्र की विशेषता है। किन्तु उसकी भी एक सीमा है। मैंने उसे निभाया है। तोड़ने वाला समझता ही नहीं तो आखिर जोड़ने वाला कब तक जोड़े ?

भरत की विशाल सेना 'बहली' की सीमा पर पहुंच गई। इधर बाहुबलि अपनी छोटी-सी सेना सजा आक्रमण को विफल करने आ गया। भाई-भाई के बीच युद्ध छिड़ गया। स्वाभिमान और स्वदेश-रक्षा की भावना से भरी हुई बाहुबलि की छोटी-सी सेना ने सम्राट् की विशाल सेना को भागने से लिए विवश कर दिया। सम्राट् की सेना ने फिर पूरी तैयारी के साथ आक्रमण किया। दुबारा भी मुंह की खानी पड़ी। लम्बे समय तक आक्रमण और बचाव की लड़ाइयां होती रहीं। आखिर दोनों भाई सामने आ खड़े हुए। तादात्म्य आंखों पर छा गया। संकोच के घेरे में दोनों ने अपने आपको छिपना चाहा, किन्तु दोनों विवश थे। एक के सामने साम्राज्य के सम्मान का प्रश्न था, दूसरे के सामने स्वाभिमान का। वे विनय और वात्सल्य की मर्यादा को जानते हुए भी रणभूमि में उतर आए। दृष्टि-युद्ध, मुष्टि-युद्ध आदि पांच प्रकार के युद्ध निर्णीत हुए। उन सब में सम्राट् पराजित हुआ। विजय हुआ बाहुबलि। भरत को छोटे भाई से पराजित होना बहुत चुभा। वह आवेग को रोक न सका। मर्यादा को तोड़ बाहुबलि पर चक्र का प्रयोग कर डाला। इस अप्रत्याशित घटना से बाहुबलि का खून उबल गया। प्रेम का स्रोत एक साथ ही सूख गया। बचाव की भावना से विहीन हाथ उठा तो सारे सन्न रह गए। भूमि और आकाश बाहुबलि की विरुद्धावलियों से गूँज उठे। भरत अपने अविचारित प्रयोग से लज्जित हो सिर झुकाए खड़ा रहा। सारे लोग भरत की भूल को भुला देने की प्रार्थना में लग गये।

एक साथ लाखों कण्ठों से एक ही स्वर गूँजा—'महान् पिता के पुत्र भी महान् होते हैं। सम्राट् ने अनुचित किया पर छोटे भाई के हाथ से बड़े भाई की हत्या और अधिक अनुचित कार्य होगा।

महान् ही क्षमा कर सकता है। क्षमा करने वाला कभी छोटा नहीं होता। महान् पिता के महान् पुत्र ! हमें क्षमा कीजिए, हमारे सम्राट् को क्षमा कीजिए।' इन लाखों कण्ठों की विनम्र स्वर-लहरियों ने बाहुबलि के शौर्य को मार्गान्तरित कर दिया। बाहुबलि ने अपने आप को सम्हाला। महान् पिता की स्मृति ने वेग का शमन किया। उठा हुआ हाथ विफल नहीं लौटता। उसका प्रहार भरत पर नहीं हुआ। वह अपने सिर पर लगा। सिर के बाल नोच डाले और अपने पिता के पथ की ओर चल पड़ा।

बाहुबलि के पैर आगे नहीं बढ़े। वे पिता की शरण में चले गए पर उनके पास नहीं गए। अहंकार अब भी बच रहा था। पूर्व-दीक्षित छोटे भाइयों को नमस्कार करने की बात आते ही उनके पैर रुक गये। वे एक वर्ष तक ध्यान-मुद्रा में खड़े रहे। विजय और पराजय की रेखाएं अनगिनत होती हैं। असंतोष पर विजय पाने वाले बाहुबलि अहं से पराजित हो गए। उनका त्याग और क्षमा उन्हें आत्म-दर्शन की ओर ले गए। उनके अहं ने उन्हें पीछे ढकेल दिया। बहुत लम्बी ध्यान-मुद्रा के उपरान्त भी आगे नहीं बढ़ सके।

'ये पैर रुक क्यों रहे हैं ? सरिता का प्रवाह रुक क्यों रहा है ?' ये शब्द बाहुबलि के कानों को बीध हृदय को पार कर गये। बाहुबलि ने आंखें खोलीं। देखा, ब्राह्मी और सुन्दरी सामने खड़ी हैं। बहनों की विनम्र-मुद्रा को देख उनकी आंखें झुक गईं।

'अवस्था से छोटे-बड़े की मान्यता एक व्यवहार है। वह सार्वभौम सत्य नहीं है। ये मेरे पैर गणित के छोटे-से प्रश्न में उलझ गए। छोटे भाइयों को नमस्कार कैसे करूं—इस तुच्छ चिन्तन में मेरा महान् साध्य विलीन हो गया। अवस्था लौकिक मानदण्ड है। लोकोत्तर जगत् में छुटपन और बड़प्पन के मानदण्ड बदल जाते हैं। वे भाई मुझसे छोटे नहीं हैं, उनका चरित्र विशाल है। मेरे अहं ने मुझे छोटा बना दिया। अब मुझे अविलम्ब भगवान् के पास चलना चाहिये।

पैर उठे कि बन्धन टूट पड़े। नम्रता के उत्कर्ष में समता का प्रवाह बह चला। वे केवली बन गये। सत्य का साक्षात् ही नहीं हुआ, वे स्वयं सत्य बन गये। शिव अब उनका आराध्य नहीं रहा, वे स्वयं शिव बन गए। आनन्द अब उनके लिए प्राप्य नहीं रहा, वे

स्वयं आनन्द बन गए ।

भरत का अनासक्त योग

भरत अब असहाय जैसा हो गया । भाई जैसा शब्द उसके लिए अर्थवान् न रहा । वह सम्राट् बना रहा किन्तु उसका हृदय अब साम्राज्यवादी नहीं रहा । पदार्थ मिलते रहे पर आसक्ति नहीं रही । वह उदासीन भाव से राज्य-संचालन करने लगा ।

भगवान् अयोध्या आये । प्रवचन हुआ । एक प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा । 'भरत मोक्ष-गामी है ।' एक सदस्य भगवान् पर बिगड़ गया और उन पर पुत्र के पक्षपात का आरोप लगाया । भरत ने उसे फांसी की सजा सुना दी । वह घबरा गया । भरत के पैरो में गिर पड़ा और अपराध के लिए क्षमा मांगी । भरत ने कहा—'तेल भरा कटोरा लिए सारे नगर में घूम आओ । तेल की एक बूंद नीचे न डालो तो तुम छूट सकते हो । दूसरा कोई विकल्प नहीं है ।'

अभियुक्त ने वैसा ही किया । वह बड़ी सावधानी से नगर में घूम आया और सम्राट् के सामने प्रस्तुत हुआ ।

सम्राट् ने पूछा—'नगर में घूम आये ?'

'जी, हां ।' अभियुक्त ने सफलता के भाव से कहा ।

सम्राट्—'नगर में कुछ देखा तुमने ?'

अभियुक्त—'नहीं, सम्राट् ! कुछ भी नहीं देखा ।'

'सम्राट्—'कई नाटक देखे होंगे ?'

अभियुक्त—'जी नहीं ! मौत के सिवा कुछ भी नहीं देखा ।'

सम्राट्—'कुछ गीत तो सुने होंगे ?'

अभियुक्त—'सम्राट् की साक्षी से कहता हूं, मौत की गुणगुना-हट के सिवा कुछ नहीं सुना ।'

सम्राट्—'मौत का इतना डर ?'

अभियुक्त—'सम्राट् इसे क्या जाने । यह मृत्युदण्ड पाने वाला ही समझ सकता है ।

सम्राट्—'क्या सम्राट् अमर रहेगा ? कभी नहीं । मौत के मुंह से कोई नहीं बच सकता । तुम एक जीवन की मौत से डर गये । न तुमने नाटक देखे और न गीत सुने । मैं मौत की लम्बी परम्परा से परिचित हूं । यह साम्राज्य मुझे नहीं लुभा सकता ।'

सम्राट् की करुणापूर्ण आंखों ने अभियुक्त को अभय बना

दिया। मृत्यु-दण्ड उसके लिए केवल शिक्षाप्रद था। सम्राट् की अमरत्व-निष्ठा ने उसे मौत से सदा के लिए उबार लिया।

श्रामण्य की ओर

सम्राट् भरत नहाने को थे। स्नानघर में गये, अंगूठी खोली। अंगुली की शोभा घट गई। फिर उसे पहना, शोभा बढ़ गई। 'पर पदार्थ से शोभा बढ़ती है, यह सौन्दर्य कृत्रिम है'—इस चिन्तन में लगे और लगे सहज सौन्दर्य ढूँढने। भावना का प्रवाह आगे बढ़ा। कर्ममल को धो डाला। क्षणों में ही मुनि बने, न वेश बदला, न राजप्रासाद से बाहर निकले, किन्तु इनका आन्तरिक संयम इनसे बाहर निकल गया और वे पिता के पथ पर चल पड़े।

ऋषभ के पश्चात्

काल को चौथा चरण दुःषम-मुषणा आया। वह बयालीस हजार वर्ष कम एक कोटि-कोटि सागर तक रहा। इस अवधि में कर्मक्षेत्र का पूर्ण विकास हुआ। धर्म बहुत फूला-फला। इस युग में जैनधर्म के बीस तीर्थङ्कर हुए। यह सारा दर्शन प्रागैतिहासिक युग का है। इतिहास अनन्त अतीत की चरण-धूलि को भी नहीं छू सका है। वह पांच हजार वर्ष को भी कल्पना की आंख से देख पाता है

सौराष्ट्र की आध्यात्मिक चेतना

बौद्ध साहित्य का जन्म-काल महात्मा बुद्ध के पहले का नहीं है। जैन साहित्य का विशाल भाग भगवान् महावीर से पूर्व का नहीं है। पर थोड़ा भाग भगवान् पार्श्व की परम्परा का भी उसमें मिश्रित है, यह बहुत सम्भव है। भगवान् अरिष्टनेमि की परम्परा का साहित्य उपलब्ध नहीं है।

वेदों का अस्तित्व पांच हजार वर्ष प्राचीन माना जाता है। उपलब्ध साहित्य श्री कृष्ण के युग का उत्तरवर्ती है। इस साहित्यिक उपलब्धि द्वारा कृष्ण-युग तक का एक रेखा-चित्र खींचा जा सकता है। उससे पूर्व की स्थिति सुदूर अतीत में चली जाती है।

सोरियपुर नगर में अन्धक कुल के नेता समुद्रविजय राज्य करते थे। उनकी पटरानी का नाम शिवा था। उसके चार पुत्र थे—अरिष्टनेमि, रथनेमि, सत्यनेमि और दृढनेमि। अरिष्टनेमि बाईसवें तीर्थङ्कर हुए और रथनेमि तथा सत्यनेमि प्रत्येक-बुद्ध।

अरिष्टनेमि का जीव जब शिवारानी के गर्भ में आया तब

माता ने चौदह स्वप्न देखे। श्रावण-कृष्णा पंचमी को रानी ने पुत्र-रत्न का प्रसव किया। स्वप्न में रिष्टरत्नमय नेमि देखे जाने के कारण पुत्र का नाम अरिष्टनेमि रखा।

अरिष्टनेमि युवा हुए। इंद्रिय-विषयों की ओर उनका अनु-राग नहीं था। वे विरक्त थे। पिता समुद्रविजय ने सोचा कि ऐसा उपक्रम किया जाये जिससे कि अरिष्टनेमि विषयों के प्रति आसक्त होकर गृहस्थ जीवन जीये। अनेक प्रयत्न किये। अनेक प्रलोभन दिये गये। पर वे अपने लक्ष्य से विचलित नहीं हुए। कुछ समय बीता। अंत में कृष्ण के समझाने पर वे विवाह करने के लिए राजी हो गए।

भोज कुल के राजन्य अग्रसेन की पुत्री राजीमती के साथ उनका विवाह निश्चित हुआ। विवाह से पूर्व किये जाने वाले सारे रीति-रिवाज सम्पन्न हुए। विवाह का दिन आया। राजीमती अलंकृत हुई। कुमार अरिष्टनेमि भी अलंकृत होकर हाथी पर आरूढ़ हुये। मंगलदीप सजाये गये। बाजे बजने लगे। वर-यात्रा प्रारम्भ हुई। हजारों लोगों ने उसे देखा। वह विवाह-मंडप की ओर धीरे-धीरे बढ़ रही थी। एक स्थान पर अरिष्टनेमि को कर्ण शब्द सुनाई दिए। उन्होंने सारथी से पूछा—‘ये शब्द कहां से आ रहे हैं। सारथी ने कहा—‘देव ! ये शब्द पशुओं की चीत्कार के हैं। वे आपके विवाह में सम्मिलित होने वाले व्यक्तियों के लिए भोज्य बनेंगे। मरण-भय से वे आक्रन्दन कर रहे हैं।’

अरिष्टनेमि का मन खिन्न हो गया। उन्होंने कहा—‘यह कैसा आनन्द ! यह कैसा विवाह ! जहां हजारों मूक पशुओं का वध किया जाता है। यह तो संसार में परिभ्रमण का हेतु है। मैं इसमें क्यों पडूं !’ उन्होंने हाथी को वहां से अपने निवास-स्थान की ओर मोड़ दिया। वे माता-पिता के पास गये और प्रव्रजित होने की इच्छा व्यक्त की। माता-पिता की आज्ञा प्राप्त करके वे तैले की तपस्या में उज्जयंत पर्वत पर सहस्राश्रवन में श्रावण शुक्ला षष्ठी के दिन एक हजार व्यक्तियों के साथ प्रव्रजित हो गए।

उन्हें चोपन दिन के बाद आश्विन कृष्णा अमावस्या के दिन कैवल्य-प्राप्ति हो गई। वे केवली बने। वे धर्मतीर्थ का प्रवर्तन कर बाईसवें तीर्थंकर हो गए।

छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार श्रीकृष्ण के आध्यात्मिक गुरु घोर आंगिरस ऋषि थे। जैन आगमों के अनुसार श्रीकृष्ण के आध्यात्मिक गुरु बाइसवें तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि थे। घोर आंगिरस ने कृष्ण को जो आत्मवादी धारणा का उपदेश दिया है, वह जैन परम्परा से भिन्न नहीं है। 'तू अक्षत-अक्षय है, अच्युत-अविनाशी है और प्राण-संशित—अतिसूक्ष्मप्राण है।' इस त्रयी को सुनकर श्रीकृष्ण अन्य विद्याओं के प्रति तृष्णाहीन हो गये। जैन-दर्शन आत्मवाद की भित्ति पर अवस्थित है। घोर आंगिरस ने जो उपदेश दिया उसका सम्बंध आत्मवादी धारणा से है। 'इसिभासिय' में आंगिरस नामक प्रत्येक युद्ध का उल्लेख है। वे भगवान् अरिष्टनेमि के शासनकाल में हुए थे। इस आधार पर यह सम्भावना की जा सकती है कि घोर आंगिरस या तो अरिष्टनेमि के शिष्य या उनके विचारों से प्रभावित कोई संन्यासी रहे होंगे।

कृष्ण और अरिष्टनेमि का पारिवारिक संबंध भी था। अरिष्टनेमि समुद्रविजय के और कृष्ण वसुदेव के पुत्र थे। समुद्र-विजय और वसुदेव सगे भाई थे। कृष्ण ने अरिष्टनेमि के विवाह के लिए प्रयत्न किया। अरिष्टनेमि की दीक्षा के समय वे उपस्थित थे। राजीमती को भी दीक्षा के समय में उन्होंने भावुक शब्दों में आशीर्वाद दिया।

कृष्ण के प्रिय अनुज गजसुकुमाल ने अरिष्टनेमि के पास दीक्षा ली।

कृष्ण की आठ पत्नियां अरिष्टनेमि के पास प्रव्रजित हुईं। कृष्ण के पुत्र और अनेक पारिवारिक लोग अरिष्टनेमि के शिष्य बने। जैन साहित्य में अरिष्टनेमि और कृष्ण के वार्तालापों, प्रश्नोत्तरों और विविध चर्चाओं के अनेक उल्लेख मिलते हैं।

वेदों में कृष्ण के देवरूप की चर्चा नहीं है। छान्दोग्य उपनिषद् में भी कृष्ण के यथार्थ रूप का वर्णन नहीं है। पौराणिक काल में कृष्ण का रूप-परिवर्तन होता है। वे सर्वशक्तिमान देव बन जाते हैं। कृष्ण के यथार्थ रूप का वर्णन जैन आगमों में मिलता है। अरिष्टनेमि और उनकी वाणी से वे प्रभावित थे, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

उस समय सौराष्ट्र की आध्यात्मिक चेतना का आलोक समूचे भारत को आलोकित कर रहा था।

तीर्थंकर पार्श्व

तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्व ऐतिहासिक पुरुष हैं। उनका तीर्थ-प्रवर्तन भगवान् महावीर से २५० वर्ष पहले हुआ। भगवान् महावीर के समय तक उनकी परम्परा अविच्छिन्न थी। भगवान् महावीर के माता-पिता भगवान् पार्श्व के अनुयायी थे। अहिंसा और सत्य की साधना को समाजव्यापी बनाने का श्रेय भगवान् पार्श्व को है। भगवान् पार्श्व अहिंसक परंपरा के उन्नयन द्वारा बहुत लोकप्रिय हो गये थे। इसकी जानकारी हमें 'पुरिसादाणीय' [पुरुषादानीय] विशेषण के द्वारा मिलती है। भगवान् महावीर भगवान् पार्श्व के लिए इस विशेषण का सम्मानपूर्वक प्रयोग करते थे।

ये काशी नरेश अश्वसेन के पुत्र थे। इनकी माता का नाम वामादेवी था। ये ३० वर्ष की अवस्था में दीक्षित हुए। वर्षों तक साधना कर केवली बने। तीर्थ की स्थापना कर ऋषभ की शृंखला में तेईसवें तीर्थंकर हुए।

इनका जन्म ई० पू० ८७७ में हुआ। इन्होंने सौ वर्षों की आयु व्यतीत कर ई० पू० ७७७ में सम्मेदशिखर [पारसनाथ पहाड़ी] पर परिनिर्वाण को प्राप्त किया। इनके १७८ वर्ष पश्चात् भगवान् महावीर का जन्म हुआ। पार्श्व के समय में चातुर्याम धर्म प्रवर्तित था।

एक बार राजकुमार पार्श्व गंगा के किनारे घूमने निकले। वहाँ एक तापस पंचाग्नि तप कर रहा था। चारों दिशाओं में अग्नि जल रही थी। ऊपर से सूर्य का प्रचण्ड ताप आ रहा था। पार्श्व वहाँ आकर रुके। उन्हें जन्म से अवधिज्ञान [एक प्रकार का अतीन्द्रिय ज्ञान] प्राप्त था। उस दिव्य ज्ञान से उन्होंने लक्कड़ में जल रहे सर्प-युगल को जान लिया। उन्होंने तापस से कहा—'यह क्या? जल रहे इस लक्कड़ में सांप का एक जोड़ा है। वह जलकर भस्म हो जाएगा।' लक्कड़ को बाहर निकाला गया। सांप का जोड़ा अधजला हो चुका था। उसे देखकर सब आश्चर्यचकित रह गए। राजकुमार पार्श्व ने उसे नमस्कार मंत्र सुनाया। वह सर्प-युगल मर कर देव-रूप में उत्पन्न हुआ। धरणेन्द्र-पद्मावती के नाम से वह युगल पार्श्वनाथ का परम उपासक बना।

धर्मानन्द कौसम्बी ने भगवान् पार्श्व के बारे में कुछ मान्यताएं प्रस्तुत की हैं :

‘परीक्षित का राज्य-काल बुद्ध से तीन शताब्दियों से पूर्व नहीं जा सकता। परीक्षित के बाद जनमेजय गद्दी पर आया और उसने कुरू देश में महायज्ञ कर वैदिक धर्म का झण्डा फहराया। इसी समय काशी देश में पार्श्व एक नयी संस्कृति की नींव डाल रहे थे। पार्श्व का जन्म वाराणसी नगर में अश्वसेन नामक राजा की वामा नामक रानी से हुआ। ऐसी कथा जैन ग्रंथों में आयी है। पार्श्व की नयी संस्कृति काशी राज्य में अच्छी तरह टिकी रही होगी, क्योंकि बुद्ध को भी अपने पहले शिष्यों को खोजने के लिए वाराणसी ही जाना पड़ा था।

पार्श्व का धर्म बिलकुल सीधा-सादा था। हिंसा, असत्य, स्तेय तथा परिग्रह इन चार बातों के त्याग करने का वे उपदेश देते थे। इतने प्राचीन काल में अहिंसा को इतना सुसम्बद्ध रूप देने का यह पहला ही उदाहरण है।

सिनाई पर्वत पर मोजेस को ईश्वर ने जो दस आज्ञाएं सुनाई, उनमें हत्या मत करो, इसका भी समावेश था। पर उन आज्ञाओं को सुनकर मोजेस और उनके अनुयायी पैलेस्टाइन में घुसे और वहां खून की नदियां बहाईं। न जाने कितने लोगों को कत्ल किया और न जाने कितनी युवती स्त्रियों को पकड़कर कर आपस में बांट लिया। इन बातों को अहिंसा कहना हो तो फिर हिंसा किसे कहा जाए? तात्पर्य यह है पार्श्व के पहले पृथ्वी पर सच्ची अहिंसा में भरा हुआ धर्म या तत्त्व-ज्ञान था ही नहीं।

पार्श्व मुनि ने एक और भी बात की। उन्होंने अहिंसा को सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह— इन तीन नियमों के साथ जकड़ दिया। इस कारण पहले जो अहिंसा ऋषि-मुनियों के आचरण तक ही सीमित थी और जनता के व्यवहार में जिसका कोई स्थान न था, अब वह इन नियमों के सम्बन्ध से सामाजिक और व्यावहारिक हो गई।

पार्श्व मुनि ने तीसरी बात यह की कि अपने नवीन धर्म के प्रचार के लिए उन्होंने संघ बनाए। बौद्ध साहित्य से इस बात का पता लगता है कि बुद्ध के समय जो संघ विद्यमान थे, उन सबों में जैन साधु और साध्वियों का संघ सबसे बड़ा था।

पार्श्व के पहले ब्राह्मणों के बड़े-बड़े समूह थे, पर वे सिर्फ यज्ञ-याग का प्रचार करने के लिए ही थे। यज्ञ-याग का तिरस्कार कर

उसका त्याग करके जंगलों में तपस्या करने वालों के संघ भी थे। तपस्या का एक अंग समझकर ही वे अहिंसा धर्म का पालन करते थे पर समाज में उसका उपदेश नहीं देते थे। वे लोगों से बहुत कम मिलते-जुलते थे।

बुद्ध के पहले यज्ञ-याग को धर्म मानने वाले ब्राह्मण थे और उसके बाद यज्ञ-याग से ऊबकर जंगलों में जाने वाले तपस्वी थे। बुद्ध के समय ऐसे ब्राह्मण और तपस्वी न थे, ऐसी बात नहीं है। पर इन दो प्रकार के दोषों को देखने वाले तीसरे प्रकार के संन्यासी भी थे और उन लोगों से पार्श्व मुनि के शिष्यों को पहला स्थान देना चाहिए”।^१

जैन परम्परा के अनुसार चातुर्यामि धर्म के प्रथम प्रवर्तक भगवान् अजितनाथ और अन्तिम प्रवर्तक भगवान् पार्श्व हैं। दूसरे तीर्थंकर से लेकर तेईसवें तीर्थंकर तक चातुर्यामि धर्म का उपदेश चला। केवल भगवान् ऋषभ और भगवान् महावीर ने पांच महाव्रत धर्म का उपदेश दिया। निग्रन्थ श्रमणों के संघ भगवान् ऋषभ से ही रहे हैं, किन्तु वे वर्तमान इतिहास की परिधि से परे हैं। इतिहास की दृष्टि से कौसम्बीजी की संघबद्धता सम्बन्धी धारणा सही है।

१. पार्श्वनाथ का चातुर्यामि धर्म ॥

भगवान् महावीर

संसार जुआ है। उसे खींचने वाले दो बैल हैं—जन्म और मौत। संसार का दूसरा पार्श्व है—मुक्ति। वहाँ जन्म और मौत दोनों नहीं। वह अमृत है। वह अमरत्व की साधना का साध्य है। मनुष्य किसी साध्य की पूर्ति के लिए जन्म नहीं लेता। जन्म लेना संसार की अनिवार्यता है। जन्म लेने वाले में योग्यता होती है, संस्कारों का संचय होता है। इसलिए वह अपनी योग्यता के अनुकूल अपना साध्य चुन लेता है। जिसका जैसा विवेक, उसका वैसा ही साध्य और वैसी ही साधना—यह एक तथ्य है। इसका अपवाद नहीं होता। भगवान् महावीर भी इसके अपवाद नहीं थे।

जन्म और परिवार

दुःषम-सुषमा पूरा होने में ७४ वर्ष, ११ महिने, साढ़े सात दिन बाकी थे। ग्रीष्म ऋतु थी। चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को मध्यरात्रि की बेला थी। उस समय भगवान् महावीर का जन्म हुआ। यह ईस्वी पूर्व ५६६ की बात है। विदेह में कुण्डपुर नामक एक नगर था। उसके दो भाग थे। उत्तर भाग का नाम क्षत्रिय कुण्डग्राम और दक्षिण भाग का नाम ब्राह्मण कुण्डग्राम था। भगवान् का जन्म दक्षिण कुण्डग्राम में हुआ था।

भगवान् की माता त्रिशला क्षत्रियाणी और पिता सिद्धार्थ थे। वे भगवान् पार्श्व की परंपरा के श्रमणोपासक थे। त्रिशला वैशाली गणराज्य के प्रमुख चेटक की बहन थी। सिद्धार्थ क्षत्रिय कुण्डग्राम के अधिपति थे।

भगवान् के बड़े भाई का नाम नन्दिवर्धन था। उनका विवाह चेटक की पुत्री ज्येष्ठा के साथ हुआ था। भगवान् के काका का नाम सुपार्श्व और बड़ी बहन का नाम सुदर्शना था।

नाम और गौत्र

भगवान् जब त्रिशला के गर्भ में आये, तब से सम्पदाएं बढ़ीं,

इसलिए माता-पिता ने उनका नाम वर्धमान रखा ।

वे ज्ञात [नाग] नामक क्षत्रिय-कुल में उत्पन्न हुए, इसलिए कुल के आधार पर उनका नाम नागपुत्र हुआ ।

साधना के दीर्घकाल में उन्होंने अनेक कष्टों का वीर-वृत्ति से सामना किया । अपने लक्ष्य से कभी भी विचलित नहीं हुए, इसलिए उनका नाम महावीर हुआ । यही नाम सबसे अधिक प्रचलित है ।

सिद्धार्थ काश्यप-गौत्रीय थे । पिता का गौत्र ही पुत्र का गौत्र होता है । इसलिए महावीर काश्यप-गौत्रीय कहलाए ।

यौवन और विवाह

बाल क्रीड़ा के बाद अध्ययन का समय आया । तीर्थंकर गर्भकाल से अवधि-ज्ञानी होते हैं । महावीर भी अवधि-ज्ञानी थे । वे पढ़ने के लिए गये । अध्यापक जो पढ़ाना चाहता था, वह उन्हें ज्ञात था । आखिर अध्यापक ने कहा—आप स्वयं सिद्ध हैं । आपको पढ़ने की आवश्यकता नहीं ।

यौवन आया । महावीर का विवाह हुआ । वे सहज विरक्त थे । विवाह करने की उनकी इच्छा नहीं थी । पर माता-पिता के आग्रह से उन्होंने विवाह किया ।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार महावीर अविवाहित ही रहे । श्वेताम्बर-साहित्य के अनुसार उनका विवाह क्षत्रिय-कन्या यशोदा के साथ हुआ । उनके प्रियदर्शना नाम की एक कन्या हुई । उसका विवाह सुदर्शना के पुत्र [आपके भानजे] जमालि के साथ हुआ ।

उनके एक शेषवती [दूसरा नाम यशस्वती] नाम की दौहित्री—धेवती हुई ।

महाभिनिष्क्रमण

वे जब अट्ठाईस वर्ष के हुए तब उनके माता-पिता का स्वर्गवास हो गया । उन्होंने तत्काल श्रमण बनना चाहा पर नन्दिवर्धन के आग्रह से वैसा हो न सका । उन्होंने महावीर से घर में रहने का आग्रह किया । वे उसे टाल न सके । दो वर्ष तक फिर घर में रहे । यह जीवन उनका एकांत विरक्तिमय बीता । इस समय उन्होंने कच्चा जल पीना छोड़ दिया, रात्रि-भोजन नहीं किया और ब्रह्मचारी रहे ।

तीस वर्ष की अवस्था में उनका अभिष्क्रिमण हुआ। वे अमरत्व की साधना के लिए निकल गए। 'आज से सब पाप-कर्म अकरणीय हैं'— इस प्रतिज्ञा के साथ वे श्रमण बने।

शान्ति उनके जीवन का साध्य था। क्रान्ति उसका सहचर परिणाम। उन्होंने बारह वर्ष तक शान्त, मौन और दीर्घ तपस्वी जीवन बिताया।

साधना और सिद्धि

भगवान् ने क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद और विनयवाद आदि सभी वादों को जाना और फिर अपना मार्ग चुना। वे स्वयं सम्बुद्ध थे। भगवान् निर्ग्रन्थ बनते ही अपनी जन्मभूमि से चल पड़े। हेमन्त ऋतु थी। भगवान् के पास केवल एक देव-दूष्य वस्त्र था। भगवान् ने नहीं सोचा कि सर्दी में मैं यह वस्त्र पहनूंगा। वे कष्ट-सहिष्णु थे। तेरह महीनों तक वह वस्त्र भगवान् के पास रहा। फिर उसे छोड़कर भगवान् पूर्ण अचेल हो गये। वे पूर्ण असंग्रही थे।

भगवान् प्रहर-प्रहर तक किसी लक्ष्य पर आंखें टीका ध्यान करते। उस समय गांव के बाल-बच्चे उधर से आ निकलते और भगवान् को देखते ही हल्ला मचाते, चिल्लाते। फिर भी वे स्थिर रहते। वे ध्यानलीन थे।

भगवान् को प्रतिकूल कष्टों की भांति अनुकूल कष्ट सहने पड़े। भगवान् जब कभी जनाकीर्ण बस्ती में ठहरते, उनके सौन्दर्य से ललचा अनेक ललनाएं उनका प्रेम चाहतीं। भगवान् उन्हें साधना की बाधा मान परहेज करते। वे स्व-प्रवेशी [आत्म-लीन] थे।

साधना के लिए एकान्तवास और मौन—ये आवश्यक हैं। जो पहले अपने को न साधे, वह दूसरों के हित नहीं साध सकता। स्वयं अपूर्ण, पूर्णता का मार्ग नहीं दिखा सकता।

भगवान् गृहस्थों से मिलना-जुलना छोड़ ध्यान करते, पूछने पर भी नहीं बोलते। कई आदमी भगवान् को मारते-पीटते, किन्तु उन्हें भी वे कुछ नहीं कहते। भगवान् वैसी कठोरचर्या में रम रहे थे जो सबके लिए सुलभ नहीं है।

भगवान् असह्य कष्टों को सहते। कठोरतम कष्टों की वे परवाह नहीं करते। व्यवहार दृष्टि से उनका जीवन नीरस था। वे

नृत्य और गीतों से जरा भी नहीं ललचाते । दंड-युद्ध, मुष्टि-युद्ध आदि लड़इयां देखने को भी उत्सुक नहीं होते ।

भगवान् स्त्री-कथा, भक्त-कथा, देश-कथा, और राज-कथा में भाग नहीं लेते । उन्हें मध्यस्थ भाव से टाल देते । वे सारे कष्ट— अनुकूल और प्रतिकूल, जो साधना के पूर्ण विराम हैं, भगवान् को लक्ष्यच्युत नहीं कर सके ।

भगवान् ने विजातीय तत्त्वों [पुद्गल-आसक्ति] को न शरण दी और न उनकी ली । वे निरपेक्ष भाव से जीते रहे ।

भगवान् श्रमण बनने से दो वर्ष पहले ही अपेक्षाओं को ठुकराने लगे । सजीव पानी पीना छोड़ दिया; अपना अकेलापन देखने लग गए; क्रोध, मान, माया और लोभ की ज्वाला को शान्त कर डाला । सम्यक्-दर्शन का रूप निखर उठा । पौद्गलिक आस्थाएं हिल गईं ।

भगवान् ने मिट्टी, पानी, अग्नि, वायु वनस्पति और चर जीवों का अस्तित्व जाना । उन्हें सजीव मान वे उनकी हिंसा से विलग हो गये ।

भगवान् ने संसार के उपादान को ढूँढ निकाला । उसके अनुसार उपाधि— परिग्रह से बन्धे हुए जीव ही कर्म-बद्ध होते हैं । कर्म ही संसार-भ्रमण का हेतु है । वे कर्मों के स्वरूप को जान उनसे अलग हो गये । भगवान् ने स्वयं अहिंसा को जीवन में उतारा । दूसरों को उनका मार्गदर्शन दिया । वासना को सर्व कर्म-प्रवाह का मूल मान भगवान् ने स्त्री-संग छोड़ा ।

अहिंसा और ब्रह्मचर्य—ये दोनों साधना के आधारभूत तत्त्व हैं । अहिंसा, अवैर साधना है । ब्रह्मचर्य जीवन की पवित्रता है । अवैर भाव के बिना आत्म-साम्य की अनुभूति और पवित्रता के बिना विकास का मार्गदर्शन नहीं हो सकता । इसलिए भगवान् ने उन पर बड़ी सूक्ष्मदृष्टि से मनन किया ।

भगवान् ने देखा—बंध कर्म से होता है । उन्होंने पाप को ही नहीं, उसके मूल को उखाड़ फेंका ।

भगवान् अपने लिए बनाया हुआ भोजन नहीं लेते । वे शुद्ध भिक्षा के द्वारा अपना जीवन चलाते । आहार का विवेक करना अहिंसा और ब्रह्मचर्य—इन दोनों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है । जीव

हिंसा का हेतुभूत आहार जैसे सदोष होता है, वैसे ही ब्रह्मचर्य में बाधा डालने वाला आहार भी सदोष है। आहार की मीमांसा में अहिंसा-विशुद्धि के बाद ब्रह्मचर्य की विशुद्धि की ओर ध्यान देना सहज प्राप्त होता है। भगवान् आहार-पानी की मात्रा के जानकार थे। रस-गृद्धि से वे किनारा करते रहे। वे जीमनवार में नहीं जाते और दुर्भिक्ष-भोजन भी नहीं लेते। उन्होंने सरस भोजन का संकल्प तक नहीं किया। वे सदा अनाशक्ति और यात्रा-निर्वाह के लिए भोजन करते रहे। भगवान् ने अनाशक्ति के लिए शरीर की परिचर्या को भी त्याग रखा था। वे खाज नहीं खनते। आंख को भी साफ नहीं करते। भगवान् संग-त्याग की दृष्टि से गृहस्थ के पात्र में खाना नहीं खाते और न उनके वस्त्र ही पहनते।

भगवान् का दृष्टि-संयम अनुत्तर था। वे चलते-चलते इधर-उधर नहीं देखते, पीछे नहीं देखते, बुलाने पर नहीं बोलते, सिर्फ मार्ग को देखते हुए चलते।

भगवान् प्रकृति-विजेता थे। वे सर्दी में नंगे बदन घूमते। सर्दी से डरे बिना हाथों को फैला कर चलते। भगवान् अप्रतिबद्ध-विहारी थे, परिव्राजक थे। बीच-बीच में शिल्प-शाला, सूना घर, झोंपड़ी, प्रपा, दूकान, लोहकार-शाला, विश्राम-गृह, श्मशान, वृक्षमूल आदि स्थानों में ठहरते। इस प्रकार भगवान् बारह वर्ष और साढ़े छह मास तक कठोर चर्या का पालन करते हुए आत्म-समाधि में लीन रहे। भगवान् साधना-काल में समाहित हो गये। अपने आप में समा गए। भगवान् दिन-रात जागरूक रहते। उनका अन्तःकरण सतत् क्रिया-शील या आत्मान्वेषी हो गया। भगवान् अप्रमत्त बन गये। वे भय और दोषकारक प्रवृत्तियों से हटकर सतत जागरूक बन गए।

ध्यान करने के लिए समाधि [आत्म-लीनता या चित्त स्वास्थ्य], यतना और जागरूकता—ये सहज अपेक्षित हैं। भगवान् ने आत्मिक वातावरण को ध्यान के अनुकूल बना लिया। बाहरी वातावरण पर विजय पाना व्यक्ति के सामर्थ्य की बात है, उसे बदलना उसके सामर्थ्य से परे भी हो सकता है। आत्मिक वातावरण बदला जा सकता है। भगवान् ने इस सामर्थ्य का पूरा उपयोग किया। भगवान् ने नींद पर भी विजय पा ली। वे दिन-रात का अधिक भाग खड़े रहकर ध्यान में बिताते। विश्राम के लिए थोड़े

समय लेटते, तब भी नींद नहीं लेते। जब कभी नींद सताने लगती तो भगवान् फिर खड़े होकर ध्यान में लग जाते। कभी-कभी तो सर्दियों की रातों में घड़ियों तक बाहर रहकर नींद टालने के लिए ध्यान-मग्न हो जाते।

भगवान् ने पूरे साधना-काल में सिर्फ एक मुहूर्त्त तक नींद ली। शेष सारा समय ध्यान और आत्म-जागरण में बीता।

भगवान् तितिक्षा की परीक्षा-भूमि थे। चंडकौशिक सांप ने उन्हें काट खाया। और भी सांप, नेवले आदि सरीसृप जात के जन्तु उन्हें सताते। पक्षियों ने उन्हें नोचा।

भगवान् को मौन और शून्यगृह-वास के कारण अनेक कष्ट झेलने पड़े। ग्राम-रक्षक राजपुरुष और दुष्कर्मा व्यक्तियों का कोप-भाजन बनना पड़ा। उन्होंने कुछ प्रसंगों पर भगवान् को सताया, यातना देने का प्रयत्न किया।

भगवान् अबहुवादी थे। वे प्रायः मौन रहते। आवश्यकता होने पर भी विशेष नहीं बोलते। एकान्त स्थान में उन्हें खड़ा देख लोग पूछते—‘तुम कौन हो?’ तब भगवान् कभी-कभी नहीं बोलते। भगवान् के मौन से चिढ़कर वे उन्हें सताते। भगवान् क्षमा-धर्म को स्व-धर्म मानते हुए सब कुछ सह लेते। वे अपनी समाधि [मानसिक संतुलन या स्वास्थ्य] को भी नहीं खोते।

कभी कभी भगवान् प्रश्नकर्ता को संक्षिप्त-सा उत्तर भी देते। ‘मैं भिक्षु हूँ’—यह कह कर फिर अपने ध्यान में लीन हो जाते।

देवों ने भी भगवान् को अछूता नहीं छोड़ा। उन्होंने भी भगवान् को घोर उपसर्ग दिए। भगवान् ने गंध, शब्द और स्पर्श सम्बन्धी अनेक कष्ट सहे।

सामान्य बात यह है कि कष्ट किसी के लिए भी इष्ट नहीं होता। स्थिति यह है कि जीवन में कष्ट आते हैं, फिर वे प्रिय लगें या न लगें। कुछ व्यक्ति कष्टों को विशुद्धि के लिए वरदान मान उन्हें हंसने-हंसते झेल लेते हैं। कुछ व्यक्ति अधीर हो जाते हैं। अधीर को कष्ट सहन करना पड़ता है और धीर कष्ट को सहते हैं।

साधना का मार्ग इससे भी और आगे है। वहां कष्ट निमंत्रित किये जाते हैं। साधनाशील उन्हें अपने भवन का दृढ़ स्तम्भ मानते हैं। कष्ट आने पर साधना का भवन गिर न पड़े, इस दृष्टि से वे

पहले ही उसे कष्टों के खम्भों पर खड़ा करते हैं। जान-बूझकर जो कष्टों को न्योता देता है, उसे उनके आने पर अरति और न आने पर रति नहीं हो सकती। अरति और रति—ये दोनों साधना के बाधक हैं। भगवान् महावीर इन दोनों को पचा लेते थे। वे मध्यस्थ थे। मध्यस्थ वही होता है जो अरति और रति की ओर न झुके।

भगवान् तृण-स्पर्श को सहते। तिनको के आसन पर नंगे बदन बैठते। लेटते और नंगे पैर चलते तब वे चुभते। भगवान् उनकी चुभन से घबराकर वस्त्रधारी नहीं बने।

भगवान् ने शीत-स्पर्श सहा। शिशिर में जब ठण्डी हवाएं फुंकारें मारतीं, लोग उनके स्पर्श मात्र से कांप उठते; दूसरे साधु पवन-शून्य स्थान की खोज और कपड़ा पहनने की बात सोचने लग जाते। कुछ तापस धूनी तपकर सर्दी से बचते; कुछ लोग ठिठुरते हुए किवाड़ को बन्द कर विश्राम करते। वैसी कड़ी और असह्य सर्दी में भी भगवान् शरीर-निरपेक्ष होकर खुले बरामदों और कभी-कभी खुले द्वार वाले स्थानों में बैठ उसे सहते।

भगवान् ने आतापनाएं लीं। सूर्य के सम्मुख होकर ताप सहा। वस्त्र न पहनने के कारण मच्छर और क्षुद्र जन्तु काटते, वे उसे समभाव से सह लेते।

भगवान् ने साधना की कसौटी चाही। वे वैसे जनपदों में गए, जहां के लोग निर्ग्रन्थ साधुओं से परिचित नहीं थे। वहां भगवान् ने स्थान और आसन संबंधी कष्टों को हंसते-हंसते सहा। वहां के लोग रूक्ष भोजी थे, इसलिए उनमें क्रोध की मात्रा अधिक थी। उसका फल भगवान् को भी सहना पड़ा। भगवान् वहां के लिए पूर्णतया अपरिचित थे, इसलिए कुत्ते भी उन्हें एक ओर से दूसरी ओर सुविधा-पूर्वक नहीं जाने देते। बहुत सारे कुत्ते भगवान् को घेर लेते। तब कुछेक व्यक्ति ऐसे थे, जो उनको हटाते। बहुत से लोग ऐसे थे जो कुत्तों को भगवान् को काटने के लिए प्रेरित करते। वहां जो दूसरे श्रमण थे वे लाठी रखते, फिर भी कुत्तों के उपद्रव से मुक्त नहीं थे। भगवान् के पास अपने बचाव का कोई साधन नहीं था, फिर भी वे शान्तभाव से वहां घूमते रहे।

भगवान् का संयम अनुत्तर था। वे स्वस्थ दशा में भी अवमौदर्य करते—कम खाते। रोग होने पर भी वे चिकित्सा नहीं

करते, औषध नहीं लेते। वे विरेचन, वमन, तैल-मर्दन, स्नान, दतौन आदि नहीं करते। उनका पथ इन्द्रिय के कांटों से अबाध था। कम खाना और औषध न लेना स्वास्थ्य के लिए हितकर है। भगवान् ने वह स्वास्थ्य के लिए नहीं किया। वे वही करते जो आत्मा के पक्ष में होता। उनकी सारी चर्या आत्म-लक्षी थी। अन्न-जल के बिना दो दिन, पक्ष, मास, छह मास बिताए। उत्कटुक, गोदोहिका आदि आसन किए, ध्यान किया; कषाय को जीता; आसक्ति को जीता; यह सब निरपेक्षभाव से किया। भगवान् ने मोह को जीता, इसलिए वे 'जिन' कहलाए। भगवान् की अप्रमत्त साधना सफल हुई।

ग्रीष्म ऋतु का वैशाख महीना था। शुक्ल दशमी का दिन था। छाया पूर्व की ओर ढल चुकी थी। पिछले पहर का समय, विजय मुहूर्त्त और उतरा-फाल्गुनी का योग था। उस बेला में भगवान् महावीर जंभियग्राम नगर के बाहर ऋजुबालिका नदी के उत्तर किनारे श्यामाक गाथापति की कृषि-भूमि में व्यावर्त नामक चेत्य के निकट शालवृक्ष के नीचे 'गोदोहिका' आसन में बैठे हुए ईशानकोण की ओर मुंह कर सूर्य का आतप ले रहे थे।

दो दिन का निर्जल उपवास था। भगवान् शुक्ल ध्यान में लीन थे। ध्यान का उत्कषे बढ़ा। क्षपक श्रेणी ली। भगवान् उत्क्रांत बन गए। उत्क्रांति के कुछ ही क्षणों में वे आत्म-विकास की आठवीं, नवीं और दसवीं भूमिका को पार कर गए। बारहवीं भूमिका में पहुंचते ही उनके मोह का बन्धन पूर्णतः टूट गया। वे वीतराग बन गए। तेरहवीं भूमिका का प्रवेशद्वार खुला। वहां ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय के बन्धन भी पूर्णतः टूट गए। भगवान् अब अनन्त-ज्ञानी, अनन्त-दर्शनी, अनन्त-आनन्दमय और अनन्त-वीर्यवान् बन गए। अब वे सर्व लोक के, सर्व जीवों के सर्वभाव जानने-देखने लगे। उनका साधना-काल समाप्त हो गया। अब वे सिद्धि-काल की मर्यादा में पहुंच गए, तेरहवें वर्ष के सातवें महीने में केवली बन गए।

धर्म के संघीय प्रयोग

भगवान् ने पहला प्रवचन देव-परिषद् में किया। देव अति विलासी होते हैं। वे व्रत और संयम स्वीकार नहीं करते। भगवान् का पहला प्रवचन निष्फल हुआ।

भगवान् जंभियग्राम नगर से विहार कर मध्यम पावापुरी

पधारे। वहां सोमिल नामक ब्राह्मण ने एक विराट् यज्ञ का आयोजन कर रखा था। उस अनुष्ठान की पूर्ति के लिए वहां इन्द्रभूति प्रमुख ग्यारह वेदविद् ब्राह्मण आये हुए थे।

भगवान् की जानकारी पा उनमें पांडित्य का भाव जागा। इन्द्रभूति उठे। भगवान् को पराजित करने के लिए वे अपनी शिष्य सम्पदा के साथ भगवान् के समवसरण में आए। उन्हें जीव के बारे में संदेह था। भगवान् ने उनके गूढ़ प्रश्न को स्वयं सामने ला रखा। इन्द्रभूति सहम गए। उन्हें सर्वथा प्रच्छन्न अपने विचार के प्रकाशन पर अचरज हुआ। उनकी अन्तर्-आत्मा भगवान् के चरणों में झुक गई। भगवान् ने उनका संदेह-निवर्तन किया। वे उठे, नमस्कार किया और श्रद्धापूर्वक भगवान् के शिष्य बन गए। भगवान् ने उन्हें छह जीव-निकाय, पांच महाव्रत और पचीस भावनाओं का उपदेश दिया।

इन्द्रभूति गौतमगोत्री थे। जैन-साहित्य में इनका सुविश्रुत नाम गौतम है। भगवान् के साथ इनके संवाद और प्रश्नोत्तर इसी नाम से उपलब्ध होते हैं। ये भगवान् के पहले गणधर और ज्येष्ठ शिष्य बने।

इन्द्रभूति की घटना सुन दूसरे पण्डितों का क्रम बंध गया। एक-एक कर वे सब आए और भगवान् के शिष्य बन गए। उन सबके एक-एक संदेह था—

१. इन्द्रभूति—जीव है या नहीं ?
२. अग्निभूति—कर्म है या नहीं ?
३. वायुभूति—शरीर और जीव एक है या भिन्न ?
४. व्यक्त—पृथ्वी आदि भूत हैं या नहीं ?
५. सुधर्मा—यहां जो जैसा है वह परलोक में भी वैसा होता है या नहीं ?
६. मंडितपुत्र—बन्ध-मोक्ष है या नहीं ?
७. मौर्यपुत्र—देव हैं या नहीं ?
८. अकम्पित—नरक है या नहीं ?
९. अचलभ्राता—पुण्य ही मात्रा-भेद से सुख-दुःख का कारण बनता है या पाप उससे पृथक् है ?
१०. मेतार्य—आत्मा होने पर भी परलोक है या नहीं ?

११. प्रभास—मोक्ष है या नहीं ?

भगवान् उनके प्रच्छन्न संदेहों को प्रकाश में लाते गए और वे उनका समाधान पा अपने को समर्पित करते गए । इस प्रकार पहले प्रवचन में ही भगवान् की शिष्य-सम्पदा समृद्ध हो गई—४४०० शिष्य बन गए ।

भगवान् ने इन्द्रभूति आदि ग्यारह विद्वान् शिष्यों को गणधर पद पर नियुक्त किया और अब भगवान् का तीर्थ विस्तार पाने लगा । स्त्रियों ने प्रव्रज्या ली । साध्वीसंघ का नेतृत्व चन्दनवाला को सौंपा । आगे चलकर १४ हजार साधु और ३६ हजार साध्वियां हुईं ।

स्त्रियों को साध्वी होने का अधिकार देना भगवान् महावीर का विशिष्ट मनोबल था । इस समय दूसरे धर्म के आचार्य ऐसा करने में हिचकते थे । आचार्य विनोबा भावे ने इस प्रसंग का बड़े मार्मिक ढंग से स्पर्श किया है । उनके शब्दों में—‘महावीर के संप्रदाय में—स्त्री-पुरुषों का किसी प्रकार का कोई भेद नहीं किया गया है । पुरुषों को जितने अधिकार दिए गए हैं, वे सब अधिकार बहनों को दिए गए थे । मैं इन मामूली अधिकारों की बात नहीं करता हूं, जो इन दिनों चलता है और जिनकी चर्चा आजकल बहुत चलती है । उस समय ऐसे अधिकार प्राप्त करने की आवश्यकता भी महसूस नहीं हुई होगी । परन्तु मैं तो आध्यात्मिक अधिकारों की बात कर रहा हूं ।

पुरुषों को जितने आध्यात्मिक अधिकार मिलते हैं, उतने ही स्त्रियों को भी अधिकार हो सकते हैं । इन आध्यात्मिक अधिकारों में महावीर ने कोई भेद-बुद्धि नहीं रखी, जिसके परिणामस्वरूप उनके शिष्यों में जितने श्रमण थे, उनसे ज्यादा श्रमणियां थीं । वह प्रथा आज तक जैन धर्म में चली आयी है । आज भी जैन संन्यासिनी होती हैं । जैन धर्म में यह नियम है कि संन्यासी अकेले नहीं घूम सकते हैं । दो से कम नहीं, ऐसा संन्यासी और संन्यासिनियों के लिए नियम है । तदनुसार दो-दो बहनें हिन्दुस्तान में घूमती हुईं देखते हैं । बिहार, मारवाड़, गुजरात, कोल्हापुर, कर्नाटक और तमिलनाडु की तरफ इस तरह घूमती हुईं देखने को मिलती हैं, यह एक बहुत बड़ी विशेषता माननी चाहिए ।

महावीर के पीछे चालीस ही साल के बाद गौतम बुद्ध हुए, जिन्होंने स्त्रियों को संन्यास देना उचित नहीं माना । स्त्रियों को संन्यास

देने में धर्म-मर्यादा नहीं रहेगी, ऐसा अन्दाजा उनको था। लेकिन एक दिन उनका शिष्य आनंद एक बहन को ले आया और बुद्ध भगवान् के सामने उपस्थित किया और बुद्ध भगवान् से कहा—‘यह बहन आपके उपदेश के लिए सर्वथा पात्र है, ऐसा मैंने देख लिया है। आपका उपदेश अर्थात् संन्यास का उपदेश इसे मिलना चाहिए।’ तो बुद्ध भगवान् ने उसे दीक्षा दी और बोले—‘हे आनंद, तेरे आग्रह और प्रेम के लिए यह काम कर रहा हूँ लेकिन इससे अपने संप्रदाय के लिए एक बड़ा खतरा मैंने उठा लिया है।’ ऐसा वाक्य बुद्ध भगवान् ने कहा और वंसा परिणाम बाद में आया भी। बौद्धों के इतिहास में बुद्ध को जिस खतरे का अन्देश था, वह पाया जाता है। यद्यपि बौद्ध धर्म का इतिहास पराक्रमशाली है। उसमें दोष होते हुए भी वह देश के लिए अभिमान रखने के लायक है। लेकिन जो डर बुद्ध को था, वह महावीर को नहीं था, यह देखकर आश्चर्य होता है। महावीर निडर दीख पड़ते हैं। इसका मेरे मन पर बहुत असर है। इसीलिए मुझे महावीर की तरफ विशेष आकर्षण है। बुद्ध की महिमा भी बहुत है। सारी दुनिया में उनकी करुणा की भावना फैल रही है, इसीलिए उनके व्यक्तित्व में किसी प्रकार की न्यूनता होगी, ऐसा मैं नहीं मानता हूँ। महापुरुषों की भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ होती हैं, लेकिन कहना पड़ेगा कि गौतम बुद्ध को व्यावहारिक भूमिका छू सकी और महावीर की व्यावहारिक भूमिका छू नहीं सकी। उन्होंने स्त्री-पुरुषों में तत्त्वतः भेद नहीं रखा। वे इतने वृद्धप्रतिज्ञ रहे कि मेरे मन में उनके लिए एक विशेष ही आदर है। इसी में उनकी महावीरता है।

रामकृष्ण परमहंस के संप्रदाय में स्त्री सिर्फ एक ही थी और वह थी श्री शारदा देवी, जो रामकृष्ण परमहंस की पत्नी थी और नाममात्र की ही पत्नी थी। वैसे तो वह उनकी माता हो गई थी और सम्प्रदाय के सभी भाइयों के लिए वह मातृस्थान में ही थी। परन्तु उनके सिवा और किसी स्त्री को दीक्षा नहीं दी गई थी।

महावीर स्वामी के बाद २५०० साल हुए, लेकिन हिम्मत नहीं हो सकती थी कि बहनों को दीक्षा दे। मैंने सुना कि चार साल पहले रामकृष्ण परमहंस मठ में स्त्रियों को दीक्षा दी जाय—ऐसा तय किया गया। स्त्री और पुरुषों का आश्रय अलग रखा जाय, यह अलग बात है। लेकिन अब तक स्त्रियों को दीक्षा ही नहीं मिलती थी, वह अब

मिल रही है। इस पर से अन्दाज लगता है कि महावीर ने २५०० साल पहले उसे करने में कितना बड़ा पराक्रम किया।

भगवान् ने गृहस्थों को धर्म का उपदेश दिया। उसे स्वीकार करने वाले पुरुष और स्त्रियाँ, उपासक और उपासिकाएँ या श्रावक और श्राविकाएँ कहलाए। भगवान् के आनन्द आदि दस प्रमुख श्रावक थे। ये बारह व्रती थे। इनकी जीवनचर्या का वर्णन करने वाला एक अंग-ग्रंथ 'उपासकदशा' है। जयन्ती आदि श्राविकाएँ थीं, जिनके प्रौढ़ तत्त्व-ज्ञान की सूचना भगवतीसूत्र से मिलती है। धर्म-आराधना के लिए भगवान् का तीर्थ सचमुच तीर्थ बन गया। भगवान् ने तीर्थ चतुष्टय [साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका] की स्थापना की, इस-लिए वे तीर्थकर कहलाए।

संघ-व्यवस्था

सभी तीर्थकरों की भाषा में धर्म का मौलिक रूप एक रहा है। धर्म का साध्य मुक्ति है। उसका साधन द्विरूप नहीं हो सकता। उसमें मात्रा-भेद हो सकता है, किन्तु स्वरूप-भेद नहीं हो सकता।

धर्म की साधना अकेले में हो सकती है, पर उसका विकास अकेले में नहीं होता। अकेले में उसका प्रयोजन ही नहीं होता, वह समुदाय में होता है। समुदाय मान्यता के बल पर बनते हैं। असमानताओं के उपरान्त भी कोई एक समानता आती है और लोग एक भावना में जुड़ जाते हैं।

जैन मनीषियों का चिन्तन साधना के पक्ष में जितना वैयक्तिक है, उतना ही साधना-संस्थान के पक्ष में सामुदायिक है। जैन तीर्थ-करों ने धर्म को एक ओर वैयक्तिक कहा, दूसरी ओर तीर्थ का प्रवर्तन किया—श्रमण-श्रमणी और श्रावक-श्राविकाओं के संघ की स्थापना की।

धर्म वैयक्तिक तत्त्व है। किन्तु धर्म की आराधना करने वालों का समुदाय बनता है, इसलिए व्यवहार में वह भी सामुदायिक बन जाता है।

भगवान् ने श्रमण-संघ की बहुत ही सुदृढ़ व्यवस्था की। अनुशासन की दृष्टि से भगवान् का संघ सर्वोपरि था। पांच महाव्रत और अणुव्रत—ये मूलगुण थे। इनके अतिरिक्त उत्तर गुणों की व्यवस्था की। विनय, अनुशासन और आत्म-विजय पर अधिक बल

दिया। व्यवस्था की दृष्टि से श्रमण-संघ को ग्यारह या नौ भागों में विभक्त किया। पहले सात गणधर सात गणों के और आठवें-नौवें तथा दसवें-ग्यारहवें क्रमशः आठवें और नौवें गण के प्रमुख थे।

गणों की सारणा-वारणा और शिक्षा-दीक्षा के लिए सात पद निश्चित थे और उनका अपना-अपना उत्तरदायित्व था—

१. **आचार्य**—सूत्र के अर्थ की वाचना देना और गण का संचालन करना।

२. **उपाध्याय**—सूत्र की वाचना देना, शिक्षा की वृद्धि करना।

३. **स्थविर**—श्रमणों को संयम में स्थिर करना, श्रामण्य से डिगते हुए श्रमणों को पुनः स्थिर करना, उनकी कठिनाइयों का निवारण करना।

४. **प्रवर्तक**—आचार्य द्वारा निर्दिष्ट धर्म-प्रवृत्तियों तथा सेवा-कार्य में श्रमणों को नियुक्त करना।

५. **गणी**—श्रमणों के छोटे-छोटे समूहों का नेतृत्व करना।

६. **गणधर**—साध्वियों के विहार आदि की व्यवस्था करना।

७. **गणावच्छेदक**—धर्म-शासन की प्रभावना करना, गण के लिए विहार और उपकरण की खोज तथा व्यवस्था करने के लिए कुछ साधुओं के साथ संघ के आगे-आगे चलना, गण की सारी व्यवस्था की चिंता करना।

इनकी योग्यता के लिए विशेष मापदंड स्थिर किए गए थे। इनका निर्वाचन नहीं होता था। ये आचार्य द्वारा नियुक्त किये जाते थे; किन्तु इसमें स्थविरों की सहमति होती थी।

स्मृति की दिनचर्या

अपर रात्रि में उठकर आत्मालोचन व धर्म-जागरिका करना—यह चर्या का पहला अंग है। स्वाध्याय, ध्यान आदि के पश्चात् आवश्यक कर्म करना। आवश्यक—अवश्य करणीय कर्म छह हैं :

१. **साम्प्रायिक**—समभाव का अभ्यास, उसकी प्रतिज्ञा का पुनरावर्तन।

२. **चतुर्विंशतिस्तव**—चौबीस तीर्थंकरों की स्मृति।

३. **वन्दना**—आचार्य को द्वादशावर्त्त-वन्दना।

४. **प्रतिक्रमण**—कृत दोषों की आलोचना।

५. **कायोत्सर्ग**—काया का स्थिरीकरण।

६. प्रत्याख्यान—त्याग करना ।

इस आवश्यक कार्य से निवृत्त होकर सूर्योदय होते-होते मुनि भण्ड-उपकरणों का प्रतिलेखन करे, उन्हें देखे । उसके पश्चात् हाथ जोड़कर गुरु से पूछे—मैं क्या करूं ? आप मुझे आज्ञा दें—मैं किसी की सेवा में लगूँ या स्वाध्याय में ? यह पूछने पर आचार्य सेवा में लगाए तो अग्लान-भाव से सेवा करे और यदि स्वाध्याय में लगाए तो स्वाध्याय करे । दिनचर्या के प्रमुख अंग हैं—स्वाध्याय और ध्यान । कहा है :

**स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यास्तां, ध्यानात् स्वाध्यायमामनेत् ।
ध्यान-स्वाध्याय-संपत्त्या परमात्मा प्रकाशते ।”**

--स्वाध्याय के पश्चात् ध्यान करे और ध्यान के पश्चात् स्वाध्याय । इस प्रकार ध्यान और स्वाध्याय के क्रम से परमात्मा प्रकाशित हो जाता है ।

आगमिक काल-विभाग इस प्रकार रहा है—दिन के पहले पहर में स्वाध्याय करे, दूसरे में ध्यान, तीसरे में भिक्षा-चर्या और चौथे में फिर स्वाध्याय ।

रात के पहले पहर में स्वाध्याय करे, दूसरे में ध्यान, तीसरे में नींद ले और चौथे में फिर स्वाध्याय करे ।

पूर्व रात में भी आवश्यक-कर्म करे । दिन के पहले पहर में प्रतिलेखन करे, वैसे चौथे पहर में भी करे । यह मुनि की जागरूकता-पूर्ण जीवन-चर्या है ।

श्रावक

धर्म की आराधना में जैन साधु-साध्वियां संघ के अंग हैं, वैसे श्रावक-श्राविकाएं भी हैं । ये चारों मिलकर ही चतुर्विध संघ को पूर्ण बनाते हैं । भगवान् ने श्रावक-श्राविकाओं को साधु-साध्वियों के माता-पिता तुल्य कहा है ।

श्रावक की धार्मिक-चर्या यह है :

१. सामायिक के अंगों का अनुपालन करना ।

२. दोनों पक्षों में पौषधोपवास करना ।

आवश्यक कर्म जैसे साधु-संघ के लिए हैं, वैसे ही श्रावक-संघ के लिए भी हैं ।

श्रावक के गुण

अणुव्रतों का पालन करने वाला श्रद्धा-संपन्न व्यक्ति कहलाता है। उसके मुख्य गुण ये हैं—

१. ग्रहण किये हुए व्रतों का सम्यक् पालन करना।
२. जहां बहुश्रुत साधार्मिक लोग हों, उस स्थान में आना-जाना।
३. बिना प्रयोजन दूसरों के घर न जाना।
४. चमकीला-भड़कीला वस्त्र न पहनना। सदा सादगीमय जीवन बिताना।
५. जुआ आदि कुव्यसनों का त्याग करना।
६. मीठी वाणी से काम चलाना। कठोर वचन नहीं कहना।
७. तप, नियम, वन्दना आदि धार्मिक अनुष्ठानों में सदा तत्पर रहना।
८. विनम्र रहना। कभी दुराग्रह नहीं करना।
९. जिनवाणी के प्रति अटूट श्रद्धावान् रहना।
१०. ऋजु व्यवहार करना। मन की ऋजुता, वचन की ऋजुता और शरीर की ऋजुता रखना।
११. गुरु-वचन को सुनने के लिए तत्पर रहना।
१२. प्रवचन या शास्त्रों की प्रवीणता प्राप्त करना।

शिष्टाचार

शिष्टाचार के प्रति जैन आचार्य बड़ी सूक्ष्मता से ध्यान देते हैं। वे आशातना को सर्वथा परिहार्य मानते हैं। किसी के प्रति अनुचित व्यवहार करना हिंसा है। आशातना हिंसा है। अभिमान भी हिंसा है। नम्रता का अर्थ है—कषाय-विजय। अभ्युत्थान, अभिवादन, प्रिय निमंत्रण, अभिमुखगमन, आसन-प्रदान, पहुंचाने के लिए जाना, हाथ जोड़ना आदि-आदि शिष्टाचार के अंग हैं। इनका विशद वर्णन उत्तराध्ययन के पहले और दशवैकालिक के नौवें अध्ययन में है।

श्रावक व्यवहार-दृष्टि से दूसरे श्रावकों को भी नमस्कार करते हैं। धर्म-दृष्टि से उनके लिए वन्दनीय मुनि होते हैं।

यह आध्यात्मिक और त्याग-प्रधान संस्कृति का एक संक्षिप्त-सा रूप है। इसका सामाजिक जीवन पर भी प्रतिबिम्ब पड़ा है।

निर्वाण

भगवान् तीस वर्ष की अवस्था में श्रमण बने, साढ़े बारह वर्ष तक तपस्वी जीवन बिताया और तीस वर्ष तक धर्मोपदेश दिया। भगवान् ने काशी, कौशल, पंचाल, कलिंग, कम्बोज, कुरु-जांगल, बाल्हीक, गांधार, सिन्धु-सौवीर आदि देशों में विहार किया।

भगवान् के चौदह हजार साधु और छत्तीस हजार साध्वियां बनीं। नन्दी सूत्र के अनुसार भगवान् के चौदह हजार साधु प्रकीर्ण-कार थे। इससे जान पड़ता है, सर्व साधुओं की संख्या और अधिक थी। १,५६,००० श्रावक और ३,१८,००० श्राविकाएं थीं। यह ब्रती श्रावक-श्राविकाओं की संख्या प्रतीत होती है। जैन धर्म का अनुगमन करने वालों की संख्या इससे अधिक थी, ऐसा सम्भव है। भगवान् के उपदेश का समाज पर व्यापक प्रभाव हुआ। उनका क्रान्ति-स्वर समाज के जागरण का निमित्त बना। वि० पू० ४७० (ई० पू० ५२७) पावापुर में कार्तिक कृष्णा अमावस्या को भगवान् का निर्वाण हुआ।

भगवान् महावीर के समकालीन धर्म-सम्प्रदाय

भगवान् महावीर का युग धार्मिक मतवादों और कर्मकाण्डों से संकुल था। बौद्ध साहित्य के अनुसार उस समय तिरसेठ श्रमण सम्प्रदाय विद्यमान थे। जैन साहित्य में तीन सौ तिरसेठ धर्म-मतवादों का उल्लेख मिलता है। यह भेदोपभेद की विस्तृत चर्चा है। संक्षेप में सारे सम्प्रदाय चार वर्गों में समाते थे। भगवान् ने उन्हें चार समवसरण कहा है। वे हैं :

१. क्रियावाद

क्रियावादी दार्शनिकों की धर्मनिष्ठा आत्मा, पुनर्जन्म और कर्मवाद पर टिकी हुई थी। वे सुकृत और दुष्कृत को एक समान नहीं मानते थे। सुचीर्ण कर्म का फल अच्छा होता है और दुश्चीर्ण कर्म का फल बुरा होता है— इस सिद्धान्त में उनकी आस्था थी।

२. अक्रियावाद

अक्रियावादी दार्शनिकों की नैतिक-निष्ठा वर्तमान की उपयोगिता पर टिकी हुई थी। वे आत्मा को पुनर्जन्मानुयायी तत्त्व नहीं मानते थे, इसलिए उनमें धर्मनिष्ठा नहीं थी। उनका सिद्धान्त था— 'सुकृत और दुष्कृत के फल में अन्तर नहीं है। सचीर्ण कर्म का फल

अच्छा नहीं होता; दुश्चीर्ण कर्म का बुरा फल नहीं होता। कल्याण और पाप अफल हैं। पुनर्जन्म नहीं है और मोक्ष नहीं है।'

३. विनयवाद

विनयवादी अहं-विसर्जन और समर्पण को सर्वोपरि मूल्य देते थे। उनकी दृष्टि में अहं ही सब दुःखों का मूल था।

४. अज्ञानवाद :

अज्ञानवादी दुःखों का मूल ज्ञान को मानते थे। अज्ञानी मनुष्य जितना सुखी होता है उतना ज्ञानी नहीं होता। वे अपने ज्ञान का उपयोग ज्ञान के निरसन में करते थे।

भगवान् महावीर ने चारों वादों की समीक्षा कर क्रियावाद का सिद्धांत स्वीकार किया। उनका स्वीकार एकांगी दृष्टि से नहीं था इसलिए उनके दर्शन को सापेक्ष-क्रियावाद की संज्ञा दी जा सकती है।

कुछ विद्वानों का अभिमत है कि यज्ञ, जातिवाद आदि ब्राह्मण सिद्धान्तों का विरोध करने के लिए महावीर ने जैन धर्म का प्रवर्तन किया। किंतु यह गहराई से आलोचित नहीं है। महावीर जिस श्रमण-परम्परा में दीक्षित हुए वह बहुत प्राचीन है। उसका अस्तित्व वेदों की रचना से पूर्ववर्ती है। वेदों में स्थान-स्थान पर विरोधी विचारधारा का उल्लेख मिलता है। उसका सम्बंध श्रमण-परम्परा से ही है।

भगवान् महावीर का परिवार तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्व के धर्म का अनुगामी था। इन साक्ष्यों से यह प्रतिध्वनित नहीं होता कि महावीर ने ब्राह्मण सिद्धांतों का विरोध करने के लिए जैन धर्म का प्रवर्तन किया।

अहिंसा और मुक्ति—ये श्रमण-संस्कृति के आधार-स्तम्भ हैं। महावीर ने स्वयं द्वारा व्याख्यात अहिंसा की प्राचीन तीर्थंकरों द्वारा व्याख्यात अहिंसा के साथ एकता प्रतिपादित की है।

भगवान् महावीर जैन धर्म के प्रवर्तक नहीं, किंतु उन्नायक थे। उन्होंने प्राचीन परम्पराओं को आगे बढ़ाया, अपने सम-सामयिक विचारों की परीक्षा की और उनके आलोक में अपने अभिमत जनता को समझाए। उनके विचारों का आलोचनापूर्वक विवेचन सन्नक्रतांग में मिलता है। वहाँ पंचमहाभूतवाद, एकात्म-

वाद, तज्जीवतच्छरीरवाद, अकारकवाद, षष्ठात्मवाद, नियतिवाद, सृष्टिवाद, कालवाद, स्वभाववाद, यदृच्छावाद, प्रकृतिवाद आदि अनेक विचारों की चर्चा और उन पर भगवान् का दृष्टिकोण प्राप्त है।

कोई धर्म पुराना होने से अच्छा होता है और नया होने से अच्छा नहीं होता, इस मान्यता में मुझे सत्य की ध्वनि सुनाई नहीं देती, फिर भी इस सत्य पर आवरण नहीं डाला जा सकता कि श्रमण-परम्परा प्राग्वैदिक है और भारतीय जीवन में आदिकाल से परि-व्याप्त है। श्रमणों की अनेक धाराएं रही हैं। उनमें सबसे प्राचीन धारा भगवान् ऋषभ की और सबसे अर्वाचीन भगवान् बुद्ध की है। और सब मध्यवर्ती हैं।

वैदिक और पौराणिक दोनों साहित्य-विधाओं में भगवान् ऋषभ श्रमण धर्म के प्रवर्तक के रूप में उल्लिखित हुए हैं। भगवान् ऋषभ का धर्म विभिन्न युगों में विभिन्न नामों से अभिहित होता रहा है। आदि में उसका नाम श्रमण-धर्म था। फिर अर्हत् धर्म हुआ। भगवान् महावीर के युग में उसे निर्ग्रन्थ धर्म कहा जाता था। बौद्ध साहित्य में भगवान् का उल्लेख 'निगंठ नातपुत्ते' के नाम से हुआ। उनके निर्वाण की दूसरी शताब्दी में वह 'जैन धर्म' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

भगवान् महावीर के अस्तित्व-काल में श्रमणों के चालीस से अधिक सम्प्रदाय थे। उनमें पांच बहुत प्रभावशाली थे :

१. निर्ग्रन्थ—महावीर का शासन।
२. शाक्य—बुद्ध का शासन।
३. आजीवक—मंखली गोशालक का शासन।
४. गंरिक—तापस शासन।
५. परिव्राजक—सांख्य शासन।

बौद्ध-साहित्य में छह श्रमण-सम्प्रदायों, उनके आचार्यों तथा सिद्धांतों का उल्लेख मिलता है :—

१. अक्रियावाद

इस संघ का आचार्य पूरणकश्यप था। उसका कहना था कि "किसी ने कुछ किया या करवाया, काटा या कटवाया, तकलीफ दी या दिलवाई, शोक किया या करवाया, कष्ट सहाया दिया,

डरा या दूसरे को डराया, प्राणी की हत्या की, चोरी की, डकैतो की, घर लूट लिया, बटमारी की, परस्त्रीगमन किया, असत्य वचन कहा, फिर भी उसको पाप नहीं लगता। तीक्ष्ण धार के चक्र से भी अगर कोई इस संसार के सब प्राणियों को मारकर ढेर लगा दे तो भी उसे पाप न लगेगा। गंगा नदी के उत्तर किनारे पर जाकर भी कोई दान दे या दिलवाए, यज्ञ करे या करवाए, तो कुछ पुण्य नहीं होने का। दान, धर्म, संयम, सत्य-भाषण—इन सबों से पुण्य-प्राप्ति नहीं होती।” इस वाद को अक्रियावाद कहते थे।

२. नियतिवाद

इस संघ का आचार्य मंखली गोशालक था। उसका कहना था—“प्राणी के अपवित्र होने में न कुछ हेतु है, न कुछ कारण। वे बिना हेतु के और बिना कारण के ही अपवित्र होते हैं। प्राणी की शुद्धि के लिए भी कोई हेतु नहीं है, कुछ भी कारण नहीं है। बिना हेतु के और बिना कारण के ही प्राणी शुद्ध होते हैं। खुद अपनी या दूसरे की शक्ति से कुछ नहीं होता। बल, वीर्य, पुरुषार्थ या पराक्रम यह सब कुछ नहीं है। सब प्राणी बलहीन और निर्वीर्य हैं—वे नियति [भाग्य] संगति और स्वभाव के द्वारा परिणत होते हैं—अक्लमंद और मूर्ख सबों के दुःखों का नाश अस्सी लाख के महाकल्पों के फेर में होकर जाने के बाद ही होता है।” इस मंखली गोशालक के मत को संसार शुद्धिवाद कहते थे। इसी को नियतिवाद भी कह सकते हैं।

३. उच्छेदवाद

इस संघ का प्रमुख अजितकेशकंबली था। उसका कहना था—“दान, यज्ञ तथा होम, यह सब कुछ नहीं है, भले-बुरे कर्मों का फल नहीं मिलता। न इहलोक है, न परलोक है। चार भूतों से मिलकर मनुष्य बना है। जब वह मरता है तो उसमें पृथ्वी धातु पृथ्वी में, आपो धातु पानी में, तेजो धातु तेज में तथा वायु धातु वायु में मिल जाता है और इन्द्रियां सब आकाश में मिल जाती हैं। मरे हुए मनुष्य को चार आदमी अर्थात् पर सुलाकर उसका गुणगान करते हुए ले जाते हैं। वहां उसकी अस्थि सफेद हो जाती है और आहुति जल जाती है। दान का पागलपन मूर्खों ने उत्पन्न किया है। जो आस्तिकवाद कहते हैं, वे झूठ भाषण करते हैं। व्यर्थ की बड़-बड़ करते हैं।

अक्लमंद और मूर्ख दोनों का ही मृत्यु के बाद उच्छेद हो जाता है । मृत्यु के बाद कुछ भी अवशेष नहीं रहता ।” इस मत को उच्छेदवाद कहते हैं ।

४. अन्योन्यवाद

इस संघ का आचार्य पकुधकात्यायन था । उसका कहना था — सातों पदार्थ न किसी ने किए, न किसी से करवाए । वे बंध्य, कूटस्थ तथा खम्बे के समान अचल हैं । वे हिलते नहीं, बदलते नहीं आपस में कष्टदायक नहीं होते और एक-दूसरे को सुख-दुःख देने में असमर्थ हैं । पृथ्वी, आप, तेज, वायु, सुख, दुःख तथा जीव—ये ही सात पदार्थ हैं । इनमें मारने वाला, मार खाने वाला, सुनने वाला, कहने वाला, जानने वाला, जनाने वाला कोई नहीं । जो तेज शस्त्रों से दूसरे से दूसरे के सिर कटवाता है वह खून नहीं करता, सिर्फ उसका शस्त्र इन सात पदार्थों के अवकाश [रिक्त स्थान] में घुसता है, इतना ही ।” इस मत को अन्योन्यवाद कहते हैं ।

५. चातुर्याम संवरवाद

इस संघ के आचार्य निग्गंथ नातपुत्र [तीर्थंकर महावीर] थे ।

६. विक्षेपवाद

इस संघ का आचार्य संजयवेलट्टिपुत्र था । वह कहता था— “परलोक है या नहीं, यह मैं नहीं समझता । परलोक है यह भी नहीं; परलोक नहीं है, यह भी नहीं ।” अच्छे या बुरे कर्मों का फल मिलता है, यह भी मैं नहीं मानता, नहीं मिलता यह भी मैं नहीं मानता । वह रहता भी है, नहीं भी रहता । तथागत मृत्यु के बाद रहता है या रहता नहीं, यह मैं नहीं समझता । वह रहता है, यह भी नहीं; वह नहीं रहता, यह भी नहीं । इस वाद को विक्षेपवाद कहते थे ।

महावीर का धर्म और गणतन्त्र

भगवान् महावीर वैशाली गणतन्त्र के वातावरण में पले-पुसे थे । वैशाली गणराज्य के प्रमुख महाराज चेटक भगवान् के मामा थे । भगवान् के पिता सिद्धार्थ उस गणराज्य के एक सदस्य थे । भगवान् के प्रारम्भिक संस्कार अहिंसा की व्याख्या में प्रतिफलित मिलते हैं ।

महावीर का पहला सिद्धांत था—समानता ।

आत्मिक समानता की अनुभूति के बिना अहिंसा विफल हो जाती है। गणराज्य की विफलता का मूल हेतु है—विषमता।

महावीर का दूसरा सिद्धांत था—आत्म-निर्णय का अधिकार।

हमारे भाग्य का निर्णय किसी दूसरी सत्ता के हाथ में हो, वह हमारी सार्वभौम सत्ता के प्रतिकूल है—यह उन्होंने बताया। उन्होंने कहा—“दुःख और सुख दोनों तुम्हारी ही सृष्टि है। तुम्हीं अपने मित्र हो और तुम्हीं अपने शत्रु। यह निर्णय तुम्हीं को करना है, तुम क्या होना चाहते हो? जनतंत्र के लिए यह बहुत ही महत्वपूर्ण सिद्धांत है। जहां व्यक्ति को आत्म-निर्णय का अधिकार नहीं होता, वहां उसका कर्तृत्व कुंठित हो जाता है। नव-निर्माण के लिए पुरुषार्थ और पुरुषार्थ के लिए आत्म-निर्णय का अधिकार आवश्यक है।

महावीर का तीसरा सिद्धांत था—आत्मानुशासन।

उन्होंने कहा—दूसरों पर हुकूमत मत करो। हुकूमत करो अपने शरीर पर, अपनी वाणी पर और मन पर। आत्मा पर शासन करो, संयम के द्वारा, तपस्या के द्वारा। यह अच्छा नहीं होगा कि कोई व्यक्ति वध और बंधन के द्वारा तुम्हारे पर शासन करे।

जनतंत्र की सफलता आत्मानुशासन पर निर्भर है। बाहरी नियंत्रण जितना अधिक होता है, उतना ही जनतंत्र निस्तेज होता है। उसकी तेजस्विता इस बात पर निर्भर है कि देशवासी लोग अधिक से अधिक आत्मानुशासित हों।

महावीर का चौथा सिद्धान्त था सापेक्षता।

उसका अर्थ है—सबको समान अवसर। बिलौना करते समय एक हाथ पीछे जाता है और दूसरा आगे आता है, फिर आगे वाला पीछे और पीछे वाला आगे जाता है। इस क्रम से नवनीत निकलता है, स्नेह मिलता है।

चलते समय एक पैर आगे बढ़ता है, दूसरा पीछे। फिर आगे वाला पीछे और पीछे वाला आगे आ जाता है। इस क्रम से गति होती है, आदमी आगे बढ़ता है।

यह सापेक्षता ही स्याद्वाद का रहस्य है। इसी के द्वारा सत्य का ज्ञान और उसका निरूपण होता है। यह सिद्धांत जनतंत्र की

रीढ़ है। कुछेक व्यक्ति सत्ता, अधिकार और पद से चिपककर बैठ जाएं, दूसरों को अवसर न दें तो असंतोष की ज्वाला भभक उठती है। यह सापेक्ष-नीति गुटबंदी को कम करने में काफी काम कर सकती है। नीतियां भिन्न होने पर भी यदि सापेक्षता हो तो अवांछनीय अलगाव नहीं होता।

महावीर ने जो किया, वह मुक्ति के लिए किया। उन्होंने जो कहा, वह मुक्ति के लिए कहा। जनतंत्र भी व्यावहारिक मुक्ति का प्रयोग है। इसलिए महावीर की करनी और कथनी दोनों में पथ-दर्शन की क्षमता है।

मनुष्य की ईश्वरीय सत्ता का संगान

भगवान् महावीर का जन्म उस युग में हुआ जिसमें मनुष्य भाग्य के झूले में झूल रहा था। भाग्य ईश्वरीय सत्ता का प्रतिनिधि तत्त्व है। जब मनुष्य ईश्वरीय सत्ता का यंत्र बनकर जीता है तब उसके जीवन-रथ का सारथि भाग्य ही होता है। भगवान् महावीर भाग्यवादी नहीं थे, इसका सहज फलित यह है कि वे चालू अर्थ में ईश्वरवादी नहीं थे। वे गणतंत्र के संस्कारों में पले-पुसे थे। वे किसी भी महासत्ता को अपनी सम्पूर्ण स्वतंत्रता सौंप देने के पक्ष में नहीं थे। उनकी अहिंसा की व्याख्या में अधिनायकवादी मनोवृत्ति के लिए कोई अवकाश नहीं था। भगवान् ने कहा—‘दूसरों पर शासन करना हिंसा है, इसलिए किसी की स्वतंत्रता का अपहरण मत करो।’ इस दुनिया में स्वतंत्रता का अपहरण होता है पर वह ईश्वरीय तत्त्व नहीं हो सकता।

भगवान् महावीर आत्मवादी थे। वे ईश्वर के अस्तित्व का प्रतिपादन करते थे, किंतु उसकी मनुष्य से भिन्न सत्ता स्वीकार नहीं करते थे। मनुष्य ईश्वर की सृष्टि है, ईश्वर उसका सर्जक है, यह कृति और कर्ता का सिद्धांत उन्हें स्वीकार्य नहीं था। उनकी स्थापना में आत्मा की तीन कक्षाएं हैं :

१. बहिर्-आत्मा

यह पहली कक्षा है। इसमें देह ही सब कुछ होता है। उसमें विराजमान चिन्मय आत्मा का अस्तित्व ज्ञात नहीं होता।

२. अन्तर्-आत्मा

यह दूसरी कक्षा है। इस कक्षा में सत्य उद्घाटित हो जाता है कि जैसे दूध में नवनीत व्याप्त होता है, वैसे ही देह में चिन्मय सत्ता व्याप्त है।

३. परम-आत्मा

यह तीसरी कक्षा है। इसमें चिन्मय सत्ता पर आई हुई देह-रूपी भस्म दूर होने लग जाती है। आत्मा परमात्मा के रूप में प्रकट हो जाता है।

आत्मा और परमात्मा मानवीय पुरुषार्थ की प्रक्रिया से वियुक्त नहीं है। भगवान् महावीर के दर्शन में परमात्मा का अस्वीकार नहीं है, उसकी विश्व-सृजनसत्ता का अस्वीकार है।

भगवान् महावीर के अनुसार जगत् अनादि-अनंत है। उसके कर्तृत्व का भार वहन करने के लिए किसी सत्ता को जन्म देने की आवश्यकता नहीं है। भगवान् महावीर से स्कंदक संन्यासी ने पूछा—“भते ! यह जगत् शाश्वत है या अशाश्वत ?” भगवान् ने कहा—आयुष्मन् ! अस्तित्व की दृष्टि से जगत् शाश्वत है और रूपांतरण की दृष्टि से वह अशाश्वत है। वह अशाश्वत है इस दृष्टि से उसमें जगत्-कर्तृत्व का अंश भी सन्निहित है। महावीर के अनुसार वह जीवों और परमाणुओं के स्वाभाविक संयोग की प्रक्रिया से सम्पादित होता है। इसी सम्पादन को लक्ष्य में रखकर महान् आचार्य हरिभद्रसूरि ने महावीर के दर्शन की ईश्वरवादी दर्शनों से तुलना की है। उन्होंने लिखा है --

‘पारमैश्वर्यं युक्तत्वात्, आत्मैव मत ईश्वरः ।

स च कर्त्तृति निर्दोषं, कर्त्तृवादो व्यवस्थितः ॥

—‘आत्मा परम ऐश्वर्य-सम्पन्न है। अतः वह ईश्वर है। वह कर्त्ता है। इस दृष्टि से महावीर का दर्शन कर्त्तृवादी है।’

महावीर ने कर्त्तृत्व का निरसन नहीं किया। उन्होंने उस कर्त्तृ-सत्ता का निरसन किया, जिसे समग्र जगत् की निर्माण-वेदिका पर प्रतिष्ठित किया जा रहा था।

भगवान् महावीर ने ईश्वरोपासना के स्थान में श्रमणोपासना का प्रवर्तन किया। ईश्वर परोक्ष शक्ति है और वह अगम्य है। उसके

प्रति जितना आकर्षण हो सकता है, उतना जीवित मनुष्य और गम्य व्यक्तित्व के प्रति नहीं हो सकता। भगवान् ने मनुष्य को ईश्वर के स्थान पर प्रतिष्ठित किया और यह उद्घोष किया कि ईश्वर कोई कल्पनातीत सत्ता नहीं है। वह मनुष्य का ही चरम विकास है। जो मनुष्य विकास की उच्च कक्षा तक पहुंच जाता है, वह परमात्मा या ईश्वर है।

भगवान् महावीर ने परम आत्मा की पांच कक्षाएं निर्धारित कीं :

१. अर्हत्—धर्म-तीर्थ के प्रवर्तक।
२. सिद्ध—मुक्त आत्मा।
३. आचार्य—धर्म-तीर्थ के संचालक।
४. उपाध्याय—धर्म-ज्ञान के संवाहक।
५. साधु—धर्म के साधक।

इनमें चार कक्षाओं के अधिकारी मनुष्य हैं और एक कक्षा के अधिकारी मुक्त आत्माएं हैं। इनमें पहला स्थान मनुष्य का है, दूसरा स्थान मुक्त आत्मा का है। मुक्त आत्मा मनुष्य-मुक्ति का हेतु नहीं है। उसकी मुक्ति के हेतु अर्हत् हैं। इसलिए नमस्कार महामंत्र में प्रथम स्थान उनको मिला।

जैन धर्म-दर्शन व्यक्ति-पूजा को मान्यता नहीं देता। वह गुण का पुजारी है। वह प्रत्येक व्यक्ति की अर्हताओं-योग्यताओं को मान्य कर उसकी पूजा करता है। इसका प्रत्यक्ष साक्ष्य है—नमस्कार महामंत्र और चतुःशरण सूत्र।

नमस्कार महामंत्र मंत्र-शृंखला का विशिष्ट मंत्र ही नहीं, महामंत्र है और यह समस्त जैन परम्परा द्वारा एक रूप से मान्य है। इसमें पांच पद और अक्षर पैंतीस हैं।

णमो अरहंताणं—मैं अर्हत् [धर्म तीर्थ के प्रवर्तक] को नमस्कार करता हूँ।

णमो सिद्धाणं—मैं सिद्ध [मुक्तात्मा] को नमस्कार करता हूँ।

णमो आयरियाणं—मैं आचार्य [धर्म तीर्थ के संचालक] को नमस्कार करता हूँ।

णमो उवज्झायाणं—मैं उपाध्याय [श्रुत ज्ञान के संवाहक]

को नमस्कार करता हूँ ।

णमो लोए सव्वसाहूणं—मैं लोक के समस्त साधुओं को नमस्कार करता हूँ ।

चतुःशरण सूत्र

अरहंते सरणं पवज्जामि—मैं अर्हत् की शरण स्वीकार करता हूँ ।

सिद्धे सरणं पवज्जामि—मैं सिद्ध की शरण स्वीकार करता हूँ ।

साहू सरणं पवज्जामि—मैं साधु की शरण स्वीकार करता हूँ ।

केवलिपन्नत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि—मैं केवली-प्रज्ञप्त धर्म की शरण स्वीकार करता हूँ ।

नमस्कार महामंत्र और चतुःशरण सूत्र में किसी भी व्यक्ति विशेष का नामोल्लेख नहीं है ।

भगवान् महावीर ने श्रमणों की उपासना के साथ कोई कर्म-काण्ड नहीं जोड़ा । उनकी भाषा में उपासना का अर्थ है—पास बैठना । महावीर के अनुयायी श्रमणों के पास जाते और उनसे धर्म का ज्ञान प्राप्त करते । भगवान् ने श्रमणोपासना को बहुत महत्त्व दिया । उन्होंने कहा—‘श्रमण की उपासना करने वाला सुनता है; जानता है, हेय और उपादेय का विवेक करता है; नये ग्रंथिपात से बचता है; पुरानी ग्रंथियों का मोक्ष करता है और मुक्त हो जाता है ।’

भगवान् महावीर मानवीय समस्या का मूल और उसका समाधान मनुष्य में ही खोजते थे । महावीर का युग देववाद का युग था । कुछ दार्शनिक देवों को बहुत महत्त्व देते थे । पर महावीर ने मानवीय चेतना को दिव्य चेतना से कभी अभिभूत नहीं होने दिया । उनका ध्रुव सिद्धांत था कि मनुष्य संयम कर सकता है, देव नहीं कर सकता ।

इन्द्र ने अपने वैभव का प्रदर्शन कर दशार्णभद्र राजा को पराजित करना चाहा, तब भगवान् ने कहा—‘दशार्णभद्र ! तुम मनुष्य हो । अपनी शक्ति को जानने वाला मनुष्य देवगण से पराजित नहीं होता ।’ दशार्णभद्र राज्य को त्यागकर मुनि बन गए । इन्द्र त्याग के साथ स्पर्धा नहीं कर सका । उसका सिर राजर्षि के सामने झुक गया ।

महावीर जब दीक्षित हुए तब उनकी शिविका को उठाने में सबसे आगे मनुष्य थे। यह अग्रगामिता का अधिकार मनुष्यों को इसलिए प्राप्त था कि महावीर मनुष्य थे। महावीर ने अपना सारा जीवन इस व्याख्या में बिताया कि ईश्वरीय सृष्टि का सर्जक मनुष्य है, पर मानवीय सृष्टि का सर्जक ईश्वर नहीं है।

धर्म की व्यापक धारणा

महावीर की धर्म की धारणा बहुत व्यापक थी। उसका कारण उनकी आस्था का अहिंसक परम्परा में विकसित होना है। वैदिक परम्परा में धर्म की स्वीकृति एक विशिष्ट वर्ग के लिए थी। उनके सामने महावीर ने श्रमण-परम्परा के शाश्वत स्वर को बहुत प्रभावी पद्धति से उच्चारित किया।

भगवान् ने सब मनुष्यों को अहिंसा के आचरण की प्रेरणा दी। उन्होंने कहा—

१. धर्म की आराधना में स्त्री-पुरुष का भेद नहीं हो सकता। फलस्वरूप श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका—ये चार तीर्थ स्थापित हुए।

२. धर्म की आराधना में जाति-पाति का भेद नहीं हो सकता। फलस्वरूप सभी जातियों के लोग उनके संघ में प्रव्रजित हुए।

३. धर्म की आराधना में क्षेत्र का भेद नहीं हो सकता। वह गांव में भी की जा सकती है और अरण्य में भी की जा सकती है। फलस्वरूप उनके साधु अरण्यवासी कम संख्या में थे।

४. धर्म की आराधना में वेश का भेद नहीं हो सकता। उसका अधिकार श्रमण को भी है, गृहस्थ को भी है।

५. भगवान् ने अपने श्रमणों से कहा—धर्म का उपदेश जैसे पुण्यवान् को दो, वैसे ही तुच्छ को दो। जैसे तुच्छ को दो, वैसे ही पुण्यवान् को दो।

इस व्यापक दृष्टिकोण का मूल असाम्प्रदायिकता और जातीयता का अभाव है।

महावीर तीर्थ के प्रवर्तक थे। तीर्थ एक सम्प्रदाय है। किन्तु उन्होंने धर्म को सम्प्रदाय के साथ बांधा नहीं। उनकी दृष्टि में जैन सम्प्रदाय की अपेक्षा जैनत्व प्रधान था। जैनत्व का अर्थ है—सम्यक्-

दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र्य की आराधना। इनकी आराधना करने वाला अन्य सम्प्रदाय के वेश में भी मुक्त हो जाता है, गृहस्थ के वेश में भी मुक्त हो जाता है। शास्त्रीय शब्दों में उन्हें क्रमशः अन्यर्लिंगसिद्ध और गृहर्लिंगसिद्ध कहा जाता है।

सहज ही प्रश्न होता है—जैन-संस्कृति का स्वरूप इतना व्यापक और उदार था, तब वह लोक-संग्रह करने में अधिक सफल क्यों नहीं हुई ?

इसके उत्तर में पांच कारण प्रस्तुत होते हैं :—

१. जैन दर्शन की सूक्ष्म सिद्धांतवादिता।
२. तपोमार्ग की कठोरता।
३. अहिंसा की सूक्ष्मता।
४. सामाजिक बन्धन का अभाव।
५. जैन साधु-संघ का प्रचार के प्रति उदासीन मनोभाव।

ये सारे तत्त्व लोक-संग्राहात्मक पक्ष को अशक्त करते रहे हैं।

तप और ध्यान का समन्वय

भगवान् महावीर का युग धर्म के प्रयोगों का युग था। उस समय हजारों वैदिक संन्यासी धर्म के विविध प्रयोगों में संलग्न थे। कुछ श्रमण और संन्यासी कठोर तपश्चर्या कर रहे थे। कुछ श्रमण और संन्यासी ध्यान की उत्कृष्ट आराधना में लीन थे। आत्मानुभूति के विभिन्न मार्गों की खोज चल रही थी।

भगवान् बुद्ध छह वर्ष तक कठोर तपश्चर्या करते रहे। उससे शान्ति नहीं मिली, तब उन्होंने ध्यान-मार्ग अपनाया। उससे उन्हें बोधि-लाभ हुआ। उन्होंने मध्यम प्रतिपदा का प्रतिपादन किया, यह स्वाभाविक ही था।

भगवान् महावीर की दृष्टि हर क्षेत्र में समन्वय की थी। उन्होंने सापेक्षता का जीवन के हर क्षेत्र में प्रयोग किया था। उन्होंने अपनी साधना में तपश्चर्या का पूर्ण बहिष्कार भी नहीं किया और ध्यान को आत्मानुभूति का एकमात्र साधन भी नहीं माना। उन्होंने तपश्चर्या और ध्यान दोनों को मान्यता दी।

कुछ विद्वानों का मत है कि भगवान् महावीर की साधना-पद्धति बहुत कठोर है। यह सर्वथा निराधार नहीं है। उनकी साधना-

पद्धति में कठोर-चर्या के अंश अवश्य हैं; किन्तु वे अनिवार्य नहीं हैं।

भगवान् महावीर ने देखा कि सबकी शक्ति और रुचि समान नहीं होती। कुछ लोगों में तपस्या की रुचि और क्षमता होती है, किन्तु ध्यान की रुचि और क्षमता नहीं होती। कुछ लोगों में ध्यान की रुचि और क्षमता होती है, किन्तु तपस्या की रुचि और क्षमता नहीं होती। भगवान् महावीर ने अपनी साधना-पद्धति में दोनों कोटि की रुचि और क्षमता का समावेश किया। ध्यान की कक्षा तपस्या की कक्षा से ऊंची है। फिर भी तपस्या साधना के क्षेत्र में सर्वथा मूल्यहीन नहीं है। भगवान् महावीर की साधना-पद्धति का वह महत्त्वपूर्ण अंग है। भगवान् महावीर दीर्घ तपस्वी कहलाते थे। अनगार तप में शूर होते हैं—‘तवसूरा अणगारा’—यह जैन परम्परा का प्रसिद्ध वाक्य है। भगवान् महावीर ने केवल उपवास को ही तप नहीं माना। उनकी तप की परिभाषा में ध्यान भी सम्मिलित है।

भगवान् महावीर ने अज्ञानमय तप का प्रबल विरोध किया और ज्ञानमय तप का समर्थन। अहिंसा-पालन में बाधा न आए, उतना तप सब साधकों के लिए आवश्यक है। विशेष तप उन्हीं के लिए है, जिनका दैहिक बल या विराग तोत्र हो। भगवान् महावीर ने दैनिक जोवन की अनेक कक्षाएं प्रतिपादित कीं। गृहवासी के लिए चार कक्षाएं हैं :—

१. **सुलभ बोधि**—यह प्रथम कक्षा है। इसमें न धर्म का ज्ञान होता है और न अभ्यास ही। केवल उसके प्रति अज्ञात अनुराग होता है। सुलभ-बोधि व्यक्ति निकट भविष्य में धर्माचरण की योग्यता पा सकता है।

२. **सम्यग्-वृष्टि**—यह दूसरी कक्षा है। इसमें धर्म का अभ्यास नहीं होता, किन्तु उसका ज्ञान होता है।

३. **अणुव्रती**—यह तीसरी कक्षा है। इसमें धर्म का ज्ञान और अभ्यास दोनों होते हैं।

४. **प्रतिमाधार**—यह चौथी कक्षा है। इसमें धर्म का विशेष अभ्यास होता है।

मुनि के लिए निम्न दो कक्षाएं हैं :—

१. **संघवासी मुनि** - यह पहली कक्षा है। इनमें अहिंसाचरण की प्रधानता है, तपस्या की प्रधानता नहीं है।

२. एकलविहारीमुनि—यह दूसरी कक्षा है। इसमें अहिंसा-चरण के साथ-साथ तपस्या भी प्रधान होती है।

इन कक्षाओं में मुनि के लिए दूसरी [एकल विहारी] कक्षा और गृहवासी के लिए चौथी [प्रतिमाधर] कक्षा में कुछ कठोर साधना का अभ्यास होता है। शेष कक्षाओं की साधना का मार्ग ऋजु है।

भगवान् महावीर की साधना-पद्धति में मृदु, मध्य और अधिक-तीनों मात्राओं का समन्वय है। मनुष्य भी मंद, मध्य और प्राज्ञ—तीन कोटी के होते हैं। इन तीनों कोटियों को एक कोटि में रखकर धर्म की व्याख्या करने की अपेक्षा विभिन्न कोटि के लोगों के लिए विभिन्न दृष्टिकोणों से धर्म की व्याख्या करना अधिक मनोवैज्ञानिक है।

असाम्प्रदायिक धर्म का मन्त्रदान

एक व्यक्ति ने आचार्यश्री तुलसी से पूछा—क्या भगवान् महावीर जैन थे? आचार्यश्री ने कहा—नहीं, वे जैन नहीं थे। वे जिन थे, उनको मानने वाले जैन होते हैं। वे जैन न होकर भी, दूसरे शब्दों में अजैन होकर भी, महान् धार्मिक थे। इसका फलित स्पष्ट है कि कोई व्यक्ति जैन होकर ही धार्मिक हो सकता है ऐसा अनुबंध नहीं है। जैन, वैष्णव, शैव, बौद्ध—ये सब नाम धर्म की परम्परा के सूचक हैं। इनकी धर्म के साथ व्याप्ति नहीं है। इसी सत्य की स्वीकृति का नाम असाम्प्रदायिक दृष्टि है।

साम्प्रदायिकता एक उन्माद है। उसके आक्रमण का ज्ञान तीन लक्षणों से होता है—१ सम्प्रदाय और मुक्ति का अनुबंध—मेरे सम्प्रदाय में आओ, तुम्हारी मुक्ति होगी अन्यथा नहीं होगी। २. प्रशंसा और निन्दा—अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा और दूसरे सम्प्रदायों की निन्दा। ३. ऐकान्तिक आग्रह—दूसरों के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न न करना।

भगवान् महावीर अहिंसा की गहराई में पहुंच चुके थे। इसलिए उन पर साम्प्रदायिक उन्माद आक्रमण नहीं कर सका। इसे उलटकर भी कहा जा सकता है कि भगवान् महावीर पर साम्प्रदायिक उन्माद का आक्रमण नहीं हुआ, इसलिए वे अहिंसा की गहराई में जा सके। आत्मौपम्य की दृष्टि को विकसित किए बिना जो धर्म के मंच

पर आता है, उसके सामने धर्म गौण और सम्प्रदाय मुख्य होता है। आत्मौपम्य की दृष्टि को विकसित कर धर्म के मंच पर आने वाले व्यक्ति के सामने धर्म मुख्य और सम्प्रदाय गौण होता है। भगवान् महावीर ने सम्प्रदाय को मान्यता दी, पर मुख्यता नहीं दी। जो लोग सम्प्रदाय को मुख्यता दे रहे थे, उनके दृष्टिकोण को महावीर ने सारहीन बताया।

जो धर्म-नेता अपने उपस्थान में आने वाले के लिए ही मुक्ति का द्वार खोलते हैं और दूसरों के लिए उसे बन्द रखते हैं, वे महावीर की दृष्टि में अहिंसक नहीं हैं। वे अपनी ही कल्पना के ताने-बाने में उलझे हुए हैं।

भगवान् महावीर ने मोक्ष का अनुबंध किसी सम्प्रदाय के साथ नहीं माना, किन्तु धर्म के साथ माना। भगवान् 'अश्रुत्वा केवली' के सिद्धान्त की स्थापना कर असाम्प्रदायिक दृष्टि को चरम बिन्दु तक ले गए। 'अश्रुत्वा केवली' उस व्यक्ति का नाम है जिसने कभी धर्म नहीं सुना, किन्तु अपनी नैसर्गिक निर्मलता के कारण केवली की कक्षा तक पहुँच गया। 'अश्रुत्वा केवली' के साथ किसी भी सम्प्रदाय, परम्परा या धर्माराधना की पद्धति का सम्बन्ध नहीं होता। उस सम्प्रदाय-मुक्त व्यक्ति को मोक्ष का अधिकारी मानकर महावीर ने धर्म की असाम्प्रदायिक सत्ता को मान्यता दे दी।

महावीर ने एक सिद्धान्त की स्थापना और की। उसके अनुसार किसी भी सम्प्रदाय में प्रव्रजित व्यक्ति मुक्त हो सकता है। इस स्थापना में सम्प्रदाय के बीच व्यवधान डालने वाली खाइयों को पाटने का प्रयत्न है। कोई भी सम्प्रदाय किसी व्यक्ति को मुक्ति का आश्वासन दे सकता है, यदि वह व्यक्ति धर्म से अनुप्राणित हो। कोई भी सम्प्रदाय किसी व्यक्ति को मुक्ति का आश्वासन नहीं दे सकता, यदि वह व्यक्ति धर्म से अनुप्राणित न हो। मोक्ष को सम्प्रदाय की सीमा से मुक्त कर भगवान् महावीर ने धर्म की असाम्प्रदायिक सत्ता के सिद्धान्त पर दोहरी मोहर लगा दी।

भगवान् महावीर मुनित्व के महान् प्रवर्तक थे। वे मोक्ष की साधना के लिए मुनि-जीवन बिताने को बहुत आवश्यक मानते थे। फिर भी उनकी प्रतिबद्धता का अन्तिम स्पर्श सचाई के साथ था, किसी नियम के साथ नहीं। भगवान् ने 'गृहलिंग-सिद्ध' की स्वीकृति

दे क्या मोक्ष-सिद्धि के लिए मुनि-जीवन की एकछत्रता को चुनौति नहीं दी ? घरवासी गृहस्थ भी किसी क्षण मुक्त हो सकता है, इसका अर्थ है कि धर्म की आराधना अमुक प्रकार के वेश या अमुक परम्परा की जीवन-प्रणाली को स्वीकार किए बिना भी हो सकती है। जीवन-व्यापी सत्य जीवन को कभी और कहीं भी आलोकित कर सकता है। इस सत्य को अनावृत कर भगवान् ने धर्म को आकाश की भांति व्यापक बना दिया। 'प्रत्येक-बुद्ध-सिद्ध' का सिद्धांत भी साम्प्रदायिक दृष्टि के प्रति मुक्त विद्रोह है। 'प्रत्येक-बुद्ध' किसी सम्प्रदाय से प्रभावित तथा किसी धर्म-परम्परा से प्रतिबद्ध होकर प्रव्रजित नहीं होते। वे अपने ज्ञान से ही प्रबुद्ध होते हैं। भगवान् ने उनको उतनी ही मान्यता दी, जितनी अपनी परम्परा में प्रव्रजित होने वालों को प्राप्त थी।

अश्रुत्वा केवली, अन्यालिंग-सिद्ध, गृहलिंग-सिद्ध और प्रत्येक बुद्ध-सिद्ध—महावीर की ये चार स्थापनाएं 'मेरे उपस्थान में आओ, तुम्हारी मुक्ति होगी, अन्यथा नहीं होगी, इस मिथ्या आश्वासन के सम्मुख खुली चुनौति के रूप में प्रस्तुत है।

जो लोग अपने धर्म की प्रशंसा और दूसरों की निंदा करते थे, उनके सामने महावीर ने कटु-सत्य प्रस्तुत किया। भगवान् ने कहा— 'जो ऐसा करते हैं, वे धर्म के नाम पर अपने बंधन की शृंखला को और अधिक सुदृढ़ बना रहे हैं।'

भगवान् महावीर से पूछा गया—'भंते ! शाश्वत धर्म कौन-सा है ?

भगवान् ने कहा—'किसी भी प्राणी को मत मारो, उपद्रुत मत करो, परितप्त मत करो, स्वतन्त्रता का अपहरण मत करो—यह शाश्वत धर्म है।'

भगवान् महावीर ने कभी नहीं कहा कि जैन धर्म शाश्वत है। तत्त्व शाश्वत हो सकता है, किन्तु नाम और रूप कभी शाश्वत नहीं होते।

भगवान् महावीर का युग धर्म के प्रभुत्व का युग था। उस समय पचासों धर्मसम्प्रदाय थे। उनमें कुछ तो बहुत ही प्रभावशाली थे। कुछ शाश्वतवादी थे और कुछ अशाश्वतवादी। शाश्वतवादी अशाश्वतवादी सम्प्रदाय पर प्रहार करते थे और अशाश्वतवादी

शाश्वतवादी धारा पर। इस पद्धति को महावीर ने साम्प्रदायिक अभिनिवेश की संज्ञा दी।

महावीर की अनेकान्त दृष्टि और स्याद्वादी निरूपण-शैली का मुख्य प्रयोजन है—सत्य के प्रति अन्याय करने की मनोवृत्ति का विसर्जन। स्याद्वाद एक अनुरोध है, उन सबसे जो सत्य को एकांगी दृष्टि से देखते हैं और आग्रह की भाषा में उसकी व्याख्या करते हैं। महावीर ने स्याद्वाद के माध्यम से शाश्वतवादी तत्त्ववेत्ताओं से अनुरोध किया कि वे अशाश्वतवादी धारा को भी समझने का प्रयत्न करें और अशाश्वतवादी तत्त्ववेत्ताओं से अनुरोध किया कि वे शाश्वतवाद की स्वीकृति का द्वार सदा के लिए बन्द न करें। एकांगिता सत्य को मान्य नहीं है, तब फिर किसी सम्प्रदाय को क्यों मान्य होनी चाहिए? सम्प्रदाय एक सीमा है। उस सीमा की एक सीमित उपयोगिता है। मनुष्य उपयोगिता को ध्यान में रखकर घर बनाता है—अनन्त को एक सीमा में बांधकर उसमें रखता है। किन्तु जब वह घर में अनन्त आकाश का आरोपण कर लेता है तब उसकी उपयोगिता असत्य में बदल जाती है। धार्मिक जब सम्प्रदाय को ही अंतिम सत्य मान लेता है तब उसकी उपयोगिता आग्रह में बदल जाती है। वह निरपेक्ष आग्रह ही साम्प्रदायिकता है। महावीर की अहिंसा इसी ईधन से प्रज्वलित हुई थी।

नैतिक मूल्यों को प्रतिष्ठा

भगवान् महावीर का युग क्रियाकांडों का युग था। महाभारत की ध्वंस-लीला का जनमानस पर अभी असर मिटा नहीं था। जनता त्राण की खोज में भटक रही थी। अनेक दार्शनिक उसे परमात्मा की शरण में ले जा रहे थे। समर्पण का सिद्धांत बल पकड़ रहा था। श्रमण-परम्परा इसका विरोध कर रही थी। भगवान् पार्श्व के निर्माण के बाद कोई शक्तिशाली नेता नहीं रहा, इसलिए उसका स्वर जनता का ध्यान आकृष्ट नहीं कर पा रहा था। भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध ने उस स्वर को फिर शक्तिशाली बनाया।

भगवान् महावीर ने कहा—‘पुरुष ! तेरा त्राण तू ही है। बाहर कहां त्राण ढूंढ रहा है?’ इस आत्मकर्तृत्व की वाणी ने भारतीय जनमानस में फिर एक बार पुरुषार्थ की लौ प्रज्वलित कर दी। श्रमण-परम्परा ने ईश्वर-कर्तृत्व को मान्यता नहीं दी। इसलिए उसमें

उपासना या भक्तिमार्ग का विकास नहीं हुआ। भगवान् महावीर के धार्मिक निरूपण में आध्यात्मिक और नैतिक सिद्धांत हैं। उसमें उपासना और भक्ति के सिद्धांत नहीं हैं।

भगवान् महावीर की व्याख्या में व्रत धार्मिक नहीं जीवन की आधारशिला [मूल गुण] है। धर्म का भव्य प्रासाद उसी के आधार पर खड़ा किया जा सकता है।

भगवान् महावीर ने मुनि-धर्म के लिए पांच महाव्रतों तथा गृहवासी के लिए पांच अणुव्रतों की व्यवस्था दी।

पांच महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह।

पांच अणुव्रत—एकदेशीय अहिंसा, एकदेशीय सत्य, एकदेशीय अचौर्य, स्वदार-संतोष, इच्छा-परिमाण।

व्रतों के विस्तार में भगवान् ने उस समय के अनैतिक आचरणों की ओर अंगुली-निर्देश किया और उन्हें छोड़ने की प्रेरणा दी। भगवान् महावीर के अस्तित्वकाल में उनका धर्म बहुत व्यापक नहीं बना। उनके श्रावकों की संख्या लाखों में ही सीमित थी।

भगवान् के निर्वाण के बाद उत्तरवर्ती आचार्यों ने उपासना और भक्तिमार्ग को भी स्थान दिया। उस अवधि में जैन धर्म में प्रतीकों की पूजा-उपासना प्रचलित हुई। मंत्र-जप का महत्त्व बढ़ा। महावीर की आत्म-केन्द्रित साधना विस्तार-केंद्रित हो गई। उस युग में जन साधारण जैन धर्म की ओर आकृष्ट हुआ और वह भारत के बहुत बड़े भाग में एक प्रभावी धर्म के रूप में सामने आ गया।

तत्त्व-चर्चा का प्रवाह

भगवान् महावीर की तपःपूत वाणी ने श्रमणों को आकृष्ट किया। भगवान् पार्श्व की परम्परा के श्रमण भगवान् महावीर के तीर्थ में सम्मिलित हो गये। अन्यतीर्थिक संन्यासी भी भगवान् की परिषद् में आने लगे। अम्बड़, स्कन्दक, पुद्गल, और शिव आदि परिद्राजक भगवान् के पास आए, प्रश्न किए और समाधान पा भगवान् के शिष्य बन गए।

कालोदायी आदि अन्ययूथिकों के प्रसंग भगवान् के तत्त्वज्ञान की व्यापक चर्चा पर प्रकाश डालते हैं। भगवान् का तत्त्व-ज्ञान बहुत सूक्ष्म था। वह युग भी धर्म-जिज्ञासुओं से भरा हुआ था। सोमिल ब्राह्मण, तंगिया नगरी के श्रमणोपासक, जयन्ती श्राविका, माकन्दी,

रोह, पिगल आदि श्रमणों के प्रश्न तत्त्व-ज्ञान की बहती धारा के स्वच्छ प्रतीक हैं ।

बिम्बसार श्रेणिक

भगवान् जीवित धर्म थे । उनका संयम अनुत्तर था । वह उनके शिष्यों को भी संयममूर्ति बनाए हुए था । महानिर्ग्रन्थ अनाथी के अनुत्तर संयम को देखकर मगध-सम्राट् बिम्बसार—श्रेणिक भगवान् का उपासक बन गया । वह जीवन के पूर्व-काल में बुद्ध का उपासक था । उसकी पट्टरानी चेलणा महावीर की उपासिका थी । उसने सम्राट् को जैन बनाने के अनेक प्रयत्न किए । सम्राट् ने उसे बौद्ध बनाने के प्रयत्न किए । पर कोई भी किसी ओर नहीं झुका । सम्राट् ने महानिर्ग्रन्थ अनाथी को ध्यानलीन देखा । उनके निकट गए । वार्तालाप हुआ । अन्त में जैन बन गए ।

इसके पश्चात् श्रेणिक का जैन प्रवचन के साथ घनिष्ठ सम्पर्क रहा । सम्राट् के पुत्र और महामंत्री अभयकुमार जैन थे । जैन परम्परा में आज भी अभयकुमार की बुद्धि का वरदान मांगा जाता है । जैन साहित्य में अभयकुमार संबंधी अनेक घटनाओं का उल्लेख मिलता है ।

श्रेणिक की तेईस रानियां भगवान् के पास प्रव्रजित हुईं । उनके अनेक पुत्र भगवान् के शिष्य बने । सम्राट् श्रेणिक के अनेक प्रसंग आगमों में उल्लिखित हैं ।

चेटक

वैशाली अठारह देशों का गणराज्य था । इसके नौ मल्लवी और नौ लिच्छवी—ये अठारह सदस्य-नृप थे । उनमें प्रमुख महाराजा चेटक थे । ये हेहय कुल के थे । इनके पिता का नाम 'केक' और माता का नाम 'यशोमती' था । त्रिशला इनकी बहिन थी । इनका पूरा परिवार भगवान् पार्श्व की परम्परा का अनुयायी था । वे भगवान् महावीर के मामा थे । जैन-श्रावकों में उनका प्रमुख स्थान था । वे बारह व्रती श्रावक थे । उनके सात कन्याएं थीं । चेटक के सभी जामाता प्रारम्भ से ही जैन थे । श्रेणिक पीछे जैन बन गया ।

अपने दौहित्र कोणिक के साथ चेटक का भीषण संग्राम हुआ । संग्राम-भूमि में भी वे अपने व्रतों का पालन करते थे । अनाक्रमणकारी पर प्रहार नहीं करते थे । एक दिन में एक बार से अधिक शस्त्र-

प्रयोग नहीं करते थे। इनके गणराज्य में जैन-धर्म का समुचित प्रसार हुआ।

प्रव्रजित राजा

भगवान् के पास आठ राजा दीक्षित हुए थे—(१) वीरांगक, (२) वीरयशा, (३) संजय, (४) एण्यक, (५) सेय, (६) शिव, (७) उद्रायण, (८) शंख—काशीवर्धन। इनमें वीरांगक, वीरयशा और संजय—ये प्रसिद्ध हैं। टीकाकार अभयदेवसूरि ने इसके अतिरिक्त कोई विवरण प्रस्तुत नहीं किया है। एण्यक श्वेतविका नरेश प्रदेशी का संबंधी कोई राजा था। सेय अमलकत्था नगरी का अधिपति था। शिव हस्तिनापुर का राजा था। उसने मोचा—मैं वैभव से सम्पन्न हूँ, यह मेरे पूर्वकृत शुभ कर्मों का फल है। मुझे वर्तमान में भी शुभ कर्म करने चाहिए। यह सोच, राज्य पुत्र को सौंपा। स्वयं दिशा-प्रोक्षित तापस बन गया। दो-दो उपवास की तपस्या करता और पारणा में पेड़ से गिरे हुए पत्तों को खा लेता, इस प्रकार की चर्या करते हुए उसे विभंग ज्ञान उत्पन्न हुआ। उससे उसने सात द्वीप और सात समुद्रों को देखा। यह विश्व सात द्वीप और सात समुद्र प्रमाण है, इसका जनता में प्रचार किया।

भगवान् के प्रधान शिष्य गौतम भिक्षा के लिए जा रहे थे। लोगों में शिव राजर्षि के सिद्धांत की चर्चा सुनी। वे भिक्षा लेकर लौटे। गौतम ने पूछा—‘भगवान् ! द्वीप-समुद्र कितने हैं?’ भगवान् ने कहा—‘असंख्य हैं।’ गौतम ने उसे प्रचारित किया। यह बात शिव राजर्षि तक पहुंची। वह संदिग्ध हुआ और उसका विभंग ज्ञान लुप्त हो गया। वह भगवान् के समीप आया, वार्तालाप कर भगवान् का शिष्य बन गया।

उद्रायण सिन्धु-सौवीर आदि सोलह जनपदों का अधिपति था। दस मुकुटबद्ध राजा इसके अधीन थे। भगवान् महावीर लम्बी यात्रा कर वहां पधारे। राजा ने भगवान् के पास मुनि-दीक्षा ली।

वाराणसी के राजा शंख के बारे में कोई विवरण नहीं मिलता। अंतकृतदशा आगम के अनुसार भगवान् ने राजा अलक को वाराणसी में प्रव्रज्या दी थी। सम्भव है यह उसी का दूसरा नाम है।

उस युग में शासक-सम्मत धर्म को अधिक महत्त्व मिलता था। इसलिए राजाओं का धर्म के प्रति आकृष्ट होना उल्लेखनीय

माना जाता। जैन धर्म ने समाज को केवल अपना अनुगामी बनाने का यत्न नहीं किया, वह उसे ब्रती बनाने के पक्ष पर भी बल देता रहा। शाश्वत सत्यों की आराधना के साथ-साथ समाज के वर्तमान दोषों से बचने के लिए भी जैन श्रावक प्रयत्नशील रहते थे। चारित्रिक उच्चता के लिए भगवान् महावीर ने जो आचार-संहिता दी, वह समाज में मानसिक स्वास्थ्य का वातावरण बनाये रखने में सक्षम है।

भगवान् महावीर की उत्तरवर्ती परंपरा

गणधर गौतम

इनका मूल नाम इन्द्रभूति था। ये गोब्बर ग्रामवासी गौतम-गोत्रीय ब्राह्मण के पुत्र थे। ये पचास वर्ष की अवस्था में प्रव्रजित हुए और भगवान् महावीर के प्रथम गणधर बने। तीस वर्ष तक ये भगवान् महावीर के साथ छद्मस्थ अवस्था में ग्रामानुग्राम विहार करते हुए धर्म का प्रचार करते रहे। जिस समय भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ, उस समय ये प्रतिबोध देने के लिए दूसरे गांव गए हुए थे। निर्वाण की सूचना मिलते ही ये शोक से विह्वल हो गए। चिन्तन की धारा मुड़ी और वे वहीं केवली हो गए। उस समय उनकी अवस्था अस्सी वर्ष की थी। वे केवलज्ञानी के रूप में भगवान् महावीर के बाद बारह वर्ष तक रहे और बानवें वर्ष की आयु समाप्त कर निर्वाण को प्राप्त हो गए।

गणधर सुधर्मा

दिगंबर परंपरा का अभिमत है कि भगवान् महावीर के प्रथम उत्तराधिकारी गौतम थे। श्वेताम्बर परंपरा का अभिमत है कि केवली कभी किसी परंपरा का वाहक नहीं होता। गौतम केवली हो चुके थे। सुधर्मा के अतिरिक्त शेष नौ गणधर भगवान् की उपस्थिति में ही निर्वाण को प्राप्त हो गए थे। इसलिए संघ के संचालन का भार गणधर सुधर्मा पर आया और वे भगवान् महावीर के प्रथम उत्तराधिकारी हुए। उनका जन्म विक्रम पूर्व ५५० में कोल्लाग सन्निवेश के अग्निवेश्यायन गोत्रीय ब्राह्मण धम्मिल के वहां हुआ। उनकी माता का नाम भद्रिला था। उनका संपूर्ण आयुष्य सौ वर्ष का था। वे पचास वर्ष की अवस्था में दीक्षित हुए, बयांतीस वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में [तीस वर्ष तक भगवान् के पास और बारह वर्ष तक भगवान् के निर्वाण के बाद] और आठ वर्ष तक केवलज्ञानी की अवस्था में रहे। वे वैभारगिरी [राजगृह] पर एक

मास का अनशन कर वीर निर्वाण २० (वि० पूर्व ४४०) में निर्वाण को प्राप्त हुए ।

आर्य जम्बूकुमार

ये राजगृह-निवासी सेठ ऋषभदत्त के पुत्र थे । इनकी माता का नाम धारिणी था । इनका जन्म विक्रम पूर्व ४८६ में हुआ था । इनका लालन-पालन अपार वैभव के बीच हुआ । जब आर्य जम्बूकुमार सोलह वर्ष के हुए तब आठ रूपवती कन्याओं के साथ इनका विवाह-संस्कार संपन्न हुआ । दहेज में इन्हें निन्यानवे करोड़ की संपत्ति प्राप्त हुई । उसी दिन प्रभव नाम का प्रसिद्ध चोर अपने पांच सौ साथियों के साथ चोरी करने वहाँ आया । जम्बूकुमार उस समय अपनी रूपसी पत्नियों के साथ वैराग्यमय वार्तालाप कर रहे थे । चोर प्रति-बुद्ध हुआ । उसने अपने साथियों को प्रतिबुद्ध किया । इस प्रकार आर्य जम्बू विक्रम पूर्व ४६६ में ५२७ व्यक्तियों के साथ [अपने माता-पिता, आठों पत्नियों तथा उनके माता-पिता, पांच सौ चोर और चोरपति प्रभव तथा स्वयं] सुधर्मा के पास दीक्षित हो गये । उस समय उनकी आयु सोलह वर्ष की थी । अठाईस वर्ष की आयु में ये आचार्य बने और छत्तीस वर्ष की आयु में इन्हें केवलज्ञान की उपलब्धि हुई । ये चरम शरीरी थे । इनका पूरा आयुष्य ८० वर्ष का था । चौसठ वर्ष के श्रमण-पर्याय में ये चंवालीस वर्ष तक युग-प्रधान आचार्य के रूप में रहे । ये इस युग के अन्तिम केवली थे । इनका निर्वाण विक्रम पूर्व ४०६ में हुआ ।

आचार्य जम्बू के साथ-साथ केवलज्ञान की परंपरा विच्छिन्न हो गई । यहां से श्रुतकेवली—चतुर्दशपूर्वी की परंपरा चली । छह आचार्य श्रुतकेवली हुए—प्रभव, शय्यम्भव, यशोभद्र, संभूतविजय, भद्रबाहु और स्थूलभद्र ।

स्थूलभद्र के पश्चात् चार पूर्व नष्ट हो गए । वहां से दसपूर्वी की परम्परा चली । दस आचार्य दसपूर्वी हुए :—१. महागिरि २. सुहस्ती, ३. गुणसुन्दर, ४. कालकाचार्य, ५. स्कन्दिलाचार्य, ६. रेवतिमित्र, ७. मंगु, ८. धर्म, ९. चंद्रगुप्त, १०. आर्यवज्र ।

तीन प्रधान परम्परार्ये

१. गणधर-वंश
२. वाचक-वंश—विद्याधर-वंश,

३. युग-प्रधान ।

आचार्य सुहस्ती तक आचार्य गणनायक और वाचनाचार्य दोनों होते थे। वे गण की सार-सम्हाल और गण की शैक्षणिक व्यवस्था—इन दोनों उत्तरदायित्वों को निभाते थे। आचार्य सुहस्ती के बाद ये कार्य विभक्त हो गए। चारित्र की रक्षा करने वाले 'गणाचार्य' और श्रुतज्ञान की रक्षा करने वाले 'वाचनाचार्य' कहलाए। गणाचार्यों की परम्परा [गणधर-वंश] अपने-अपने गण के गुरु-शिष्यक्रम से चलती है। वाचनाचार्यों और युग-प्रधानों की परम्परा एक ही गण से सम्बन्धित नहीं है। जिस किसी भी गण या शाखा में एक के बाद दूसरे समर्थ वाचनाचार्य तथा युग-प्रधान हुए हैं, उनका क्रम जोड़ा गया है।

आचार्य सुहस्ती के बाद भी कुछ आचार्य गणाचार्य और वाचनाचार्य - दोनों हुए हैं। जो आचार्य विशेष लक्षण-सम्पन्न और अपने युग में सर्वोपरि प्रभावशाली हुए, उन्हें युग-प्रधान माना गया। वे गणाचार्य और वाचनाचार्य दोनों में से हुए हैं।

सम्प्रदाय-भेद

विचार का इतिहास जितना पुराना है, लगभग उतना ही पुराना विचार-भेद का इतिहास है। विचार व्यक्ति-व्यक्ति की ही उपज होता है, किंतु संघ में रूढ़ होने के बाद संघीय कहलाता है।

तीर्थंकर-वाणी जैन-संघ के लिए सर्वोपरि प्रमाण है। वह प्रत्यक्ष दर्शन है, इसलिए उसमें तर्क की कर्कशता नहीं है। वह तर्क से बाधित भी नहीं है। वह सूत्ररूप है। उसकी व्याख्या में तर्क का लचोलापन आया है। भाष्यकार और टीकाकार प्रत्यक्षदर्शी नहीं थे। उन्होंने सूत्र के आशय को परम्परा से समझा। कहीं समझ में नहीं आया, हृदयंगम नहीं हुआ तो अपनी युक्ति और जोड़ दी। लंबे समय में अनेक सम्प्रदाय बन गए। श्वेताम्बर और दिगम्बर जैसे शासन-भेद हुए। भगवान् महावीर के समय में कुछ श्रमण वस्त्र पहनते, कुछ नहीं भी पहनते। भगवान् स्वयं वस्त्र नहीं पहनते थे। वस्त्र पहनने से मुक्ति होती ही नहीं या वस्त्र नहीं पहनने से मुक्ति होती है, ये दोनों बातें गौण हैं। मुख्य बात है—राग-द्वेष से मुक्ति। जैन-परम्परा का भेद मूल तत्त्वों की अपेक्षा ऊपरी बातों या गौण प्रश्नों पर अधिक टिका हुआ है।

दोर्घकालीन परंपरा में विचारभेद होना अस्वाभाविक नहीं है। जैन परंपरा में भी ऐसा हुआ है। आमूलचूल विचार परिवर्तन होने पर कुछ जैन साधु निर्ग्रन्थ शासन को छोड़कर अन्य शासन में जाकर वहां श्रमण बन गए। गोशालक भी उनमें एक था। ऐसे श्रमणों को निन्हव की संज्ञा नहीं दी गई। निन्हव उन्हीं साधुओं को कहा गया जिनका चालू परंपरा के साथ किसी एक विषय में मत-भेद हो जाने के कारण, वे वर्तमान शासन से पृथक् हो गए, किन्तु किसी अन्य धर्म को स्वीकार नहीं किया। इसलिए उन्हें अन्यधर्मी न कहकर, जैन शासक के निन्हव [किसी एक विषय का अपलाप करने वाले] कहा गया है। इस प्रकार के निन्हव सात हुए हैं। इनमें से दो [जमाली और तिष्यगुप्त] भगवान् महावीर का कैवल्य-प्राप्ति के बाद हुए हैं और शेष पांच निर्वाण के बाद। इन सब निन्हवों का अस्तित्व-काल भगवान् महावीर के कैवल्य-प्राप्ति के चौदह वर्ष से निर्वाण के बाद ५८४ वर्ष तक रहा है। उनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है—

१. बहुरतवाद

जमाली पहला निहव था। वह क्षत्रिय-पुत्र और भगवान् महावीर का दामाद था। मां-बाप के अगाध प्यार और अतुल ऐश्वर्य को ठुकरा कर वह निर्ग्रन्थ बना। भगवान् महावीर ने स्वयं उसे प्रव्रजित किया। पांच सौ व्यक्ति उसके साथ थे। मुनि जमाली अब आगे बढ़ने लगा। ज्ञान, दर्शन और चरित्र की आराधना में अपने आपको लगा दिया। सामायिक आदि ग्यारह अंग पढ़े। वह विचित्र तप-कर्म—उपवास, बेला, तेला यावत् अर्द्ध मास और मास की तपस्या से आत्मा को भावित करते हुए विहार करने लगा।

एक दिन की बात है, ज्ञानी और तपस्वी जमाली भगवान् महावीर के पास आया। वन्दना की, नमस्कार किया और बोला— 'भगवन् ! मैं आपकी आज्ञा पाकर पांच सौ निर्ग्रन्थों के साथ जनपद विहार करना चाहता हूं।' भगवान् ने जमाली की बात सुन ली। उसे आदर नहीं दिया। मौन रहे। जमाली ने दुबारा और तिबारा अपनी इच्छा को दोहराया। भगवान् पहले की भांति मौन रहे। जमाली उठा। भगवान् को वन्दना की, नमस्कार किया। बहुशाला नामक चैत्य से निकाला। अपने साथी पांच सौ निर्ग्रन्थों को

साथ ले भगवान् से अलग विहार करने लगा ।

श्रावस्ती के कोष्ठक चैत्य में जमाली ठहरा हुआ था। संयम और तप की साधना चल रही थी। निर्ग्रन्थ-शासन की कठोरचर्या और वैराग्यवृत्ति के कारण वह अरस-विरस, अन्त-प्रांत, रूखा-सूखा, कालातिक्रांत, प्रमाणातिक्रांत आहार लेता। उससे जमाली का शरीर रोगातंक से घिर गया। विपुल वेदना होने लगी। कटु दुःख उदय में आया। पित्तज्वर से शरीर जलने लगा। घोरतम वेदना से पीड़ित जमाली ने अपने साधुओं से कहा—‘देवानुप्रियो ! बिछौना करो।’ साधुओं ने विनयावनत हो उसे स्वीकार किया। बिछौना करने लगे। वेदना का वेग बढ़ रहा था। एक-एक पल भारी हो रहा था। जमाली ने अधीर स्वर से पूछा—‘मेरा बिछौना बिछा दिया या बिछा रहे हो ? श्रमणों ने उत्तर दिया—‘देवानुप्रिय ! आपका बिछौना किया नहीं, किया जा रहा है।’ दूसरी बार फिर पूछा—‘देवानुप्रियो ! बिछौना किया या कर रहे हो ?’ श्रमण-निर्ग्रथ बोले—‘देवानुप्रिय ! आपका बिछौना किया नहीं, किया जा रहा है।’ इस उत्तर ने वेदना से अधीर बने जमाली को चौंका दिया। शारीरिक वेदना की टक्कर से सैद्धान्तिक धारणा हिल उठी। विचारों ने मोड़ लिया। जमाली सोचने लगा—भगवान् चलमान को चलित, उदीयमाण को उदेरित यावत् निर्जीर्यमाण को निर्जीर्ण कहते हैं, वह मिथ्या है। यह सामने दीख रहा है। मेरा बिछौना बिछाया जा रहा है, किन्तु बिछा नहीं है। इसलिए क्रियमाण अकृत, संस्तीर्यमाण असंस्तृत है—किया जा रहा है किन्तु किया नहीं गया है, बिछाया जा रहा है किन्तु बिछा नहीं है—का सिद्धांत सही हैं। इसके विपरीत भगवान का ‘क्रियमाण कृत’ और ‘संस्तीर्यमाण संस्तृत’—करना शुरू हुआ, वह कर लिया गया, बिछाना शुरू किया वह बिछा लिया गया—यह सिद्धांत गलत है। चलमान को चलित, यावत् निर्जीर्यमाण को निर्जीर्ण मानना मिथ्या है। चलमान को अचलित यावत् निर्जीर्यमाण को अनिर्जीर्ण मानना सही है। बहुरतवाद—कार्य की पूर्णता होने पर उसे पूर्ण कहना ही यथार्थ है। इस सैद्धान्तिक उथल-पुथल ने जमाली की शरीर-वेदना को निर्वीर्य बना दिया। उसने साधुओं को बुलाया और अपना सारा मानसिक आन्दोलन कह सुनाया। श्रमणों ने आश्चर्य के साथ सुना। जमाली भगवान् के सिद्धान्त को मिथ्या और अपने

परिस्थितिजन्य अपरिपक्व विचार को सच बता रहा है। माथे-माथे का विचार अलग-अलग होता है। कुछेक श्रमणों को जमाली का विचार रुचा, मन को भाया, उस पर श्रद्धा जमी। वे जमाली की शरण में रहे। कुछेक जिन्हें जमाली का विचार नहीं जंचा, उस पर श्रद्धा या प्रतीति नहीं हुई, वे भगवान् की शरण में चले गए। थोड़ा समय बीता। जमाली स्वस्थ हुआ। श्रावस्ती से चला। एक गांव से दूसरे गांव विहार करने लगा। भगवान् उन दिनों चम्पा के पूर्णभद्र चैत्य में विराज रहे थे। जमाली वहां आया। भगवान् के पास बैठकर बोला—‘देवानुप्रिय ! आपके बहुत सारे शिष्य असर्वज्ञ-दशा में गुरुकुल से अलग होते हैं। वैसे मैं नहीं हुआ हूं। मैं सर्वज्ञ, अर्हत्, जिन केवली होकर आपसे अलग हुआ हूं। जमाली की यह बात सुनकर भगवान् के ज्येष्ठ अन्तेवासी गौतम स्वामी बोले—‘जमाली ! सर्वज्ञ का ज्ञान-दर्शन शूल-स्तम्भ और स्तूप से रुद्ध नहीं होता। जमाली ! यदि तुम सर्वज्ञ होकर भगवान् से अलग हुए हो तो लोक शाश्वत है या अशाश्वत, जीव शाश्वत है या अशाश्वत— इन दो प्रश्नों का उत्तर दो।’ गौतम के प्रश्न सुन वह शंकित हो गया। उनका यथार्थ उत्तर नहीं दे सका। मौन हो गया। भगवान् बोले—‘जमाली ! मेरे अनेक छद्मस्थ शिष्य भी मेरी भांति इन प्रश्नों का उत्तर देने में समर्थ हैं। किन्तु तुम्हारी भांति अपने आपको सर्वज्ञ कहने में समर्थ नहीं हैं।’

‘जमाली ! यह लोक शाश्वत भी है और अशाश्वत भी। लोक कभी नहीं था, नहीं है, नहीं होगा—ऐसा नहीं है। किन्तु यह था, है और रहेगा। इसलिए यह शाश्वत है। अवसर्पिणी के बाद उत्सर्पिणी होती है और उत्सर्पिणी के बाद फिर अवसर्पिणी। इस काल-चक्र की दृष्टि से लोक अशाश्वत है। इसी प्रकार जीव भी शाश्वत और अशाश्वत दोनों हैं। त्रैकालिक सत्ता की दृष्टि से वह शाश्वत है। वह कभी नैरयिक बन जाता है, कभी तिर्यंच, कभी मनुष्य और कभी देव। इस रूपान्तरण की दृष्टि से वह अशाश्वत है।’ जमाली ने भगवान् की बातें सुनीं पर वे अच्छी नहीं लगीं। उन पर श्रद्धा नहीं हुई। वह उठा, भगवान् से अलग चला गया। मिथ्या-प्ररूपणा करने लगा—झूठी बातें कहने लगा। मिथ्या-अभिनिवेश से वह आग्रही बन गया। दूसरों को भी आग्रही बनाने का जी भर

जाल रचा। बहुतों को झगड़ाखोर बनाया। इस प्रकार की चर्चा चलती रही। लम्बे समय तक श्रमण-वेश में साधना की। अंतकाल में एक पक्ष की संलेखना की। तीस दिन का अनशन किया। किन्तु मिथ्या-प्ररूपणा या झूठे आग्रह की आलोचना नहीं की, प्रायश्चित्त नहीं किया। इसलिए आयु पूरा होने पर वह लान्तक-कल्प [छठे देवलोक] के नीचे किल्बिषिक [निम्न श्रेणी का] देव बना।

२. जीव-प्रादेशिकवाद

दूसरे निन्हव का नाम तिष्यगुप्त है। इनके आचार्य 'वस्तु' चतुर्दशपूर्वी थे। वे तिष्यगुप्त को आत्मप्रवादपूर्व पढ़ा रहे थे। उसमें भगवान् महावीर और गौतम का सम्वाद आया—

गौतम—'भगवन् ! क्या जीव के एक प्रदेश को जीव कहा जा सकता है ?'

भगवान्—'नहीं।'

गौतम—'भगवन् ! क्या दो, तीन यावत् संख्यात प्रदेश को जीव कहा जा सकता है ?'

भगवान्—'नहीं। असंख्यात प्रदेशमय चैतन्य पदार्थ को ही जीव कहा जा सकता है।'

यह सुन तिष्यगुप्त ने कहा—'अंतिम प्रदेश के बिना शेष प्रदेश जीव नहीं हैं। इसलिए अंतिम प्रदेश ही जीव है।'

गुरु के समझाने पर भी अपना आग्रह नहीं छोड़ा, तब उन्हें संघ ने पृथक् कर दिया। ये जीव-प्रदेश सम्बन्धी आग्रह के कारण जीवप्रादेशिक कहलाए।

३. अव्यक्तवाद

श्वेतविका नगरी के पौलाषाढ़ चैत्य में आचार्य आषाढ़ विहार कर रहे थे। उनके शिष्यों में योग-साधना का अभ्यास चल रहा था। आचार्य का आकस्मिक स्वर्गवास हो गया। उसने सोचा— शिष्यों का अभ्यास अधूरा रह जाएगा। वे फिर अपने शरीर में प्रविष्ट हो गए। शिष्यों को इसकी जानकारी नहीं थी। योग-साधना का क्रम पूरा हुआ। आचार्य देवरूप में प्रकट हो बोले— श्रमणो ! मैंने असंयत होते हुए भी संयतात्माओं से वंदना कराई, इसलिए मुझे क्षमा करना।' सारी घटना मुना देव अपने स्थान

पर चले गए। श्रमणों को संदेह हो गया कि कौन जाने कौन साधु है और कौन देव ? निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यह अव्यक्त मत कहलाया। आषाढ के कारण यह विचार चला, इसलिए इसके प्रवर्तक आचार्य आषाढ हैं—ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं, पर वास्तव में इसके प्रवर्तक आषाढ के शिष्य ही होने चाहिए। ये तीसरे निन्हव हुए।

४. सामुच्छेदिकवाद

अश्वमित्र अपने आचार्य कौण्डिल के पास पूर्व-ज्ञान पढ़ रहे थे। पहले समय के नारक विच्छिन्न हो जायेंगे, दूसरे समय के भी विच्छिन्न हो जायेंगे, इस प्रकार सभी जीव विच्छिन्न हो जायेंगे—यह पर्यायवाद का प्रकरण चल रहा था। उन्होंने एकांत-समुच्छेद का आग्रह किया। वे संघ से पृथक् कर दिए गए। उनका मत 'सामुच्छेदिकवाद' कहलाया। ये चौथे निन्हव हुए।

द्वैक्रियवाद

गंग मुनि आचार्य धनगुप्त के शिष्य थे। वे शरद् ऋतु में अपने आचार्य को वंदना करने जा रहे थे। मार्ग में उल्लुका नदी थी। उसे पार करते समय सिर को सूर्य की गरमी और पैरों को नदी की ठंडक का अनुभव हो रहा था। मुनि ने सोचा, आगम में कहा है—एक समय में दो क्रियाओं की अनुभूति नहीं होती। किन्तु मुझे एक साथ दो क्रियाओं की अनुभूति हो रही है। वे गुरु के पास पहुंचे और अपना अनुभव सुनाया। गुरु ने कहा—'वास्तव में एक समय में एक ही क्रिया की अनुभूति होती है। मन का क्रम बहुत सूक्ष्म है, इसलिए हमें उसकी पृथकता का पता नहीं चलता।' गुरु की बात उन्हें नहीं जंची। वे संघ से अलग होकर 'द्वैक्रियवाद' का प्रचार करने लगे। ये पांचवें निन्हव हुए।

६. त्रैराशिकवाद

छठे निन्हव रोहगुप्त [षडलूक] हुए। वे अंतरंजिका के भूत-गृह चैत्य में ठहरे हुए अपने आचार्य श्रीगुप्त को वन्दन करने जा रहे थे। वहां पोद्दशाहल परिव्राजक अपनी विद्याओं के प्रदर्शन से लोगों को अचम्भे में डाल रहा था और दूसरे सभी धार्मिकों को वाद के लिए चुनौती दे रहा था। आचार्य ने रोहगुप्त को उसकी चुनौती स्वीकार करने का आदेश दिया और मयूरी, नकुली,

विडाली, व्याघ्री, सिंही आदि अनेक विद्याएं भी सिखाईं ।

रोहगुप्त ने उसकी चुनौती को स्वीकार किया । राज-सभा में चर्चा का प्रारम्भ हुआ ।

पोट्टशाल ने जीव और अजीव—इन दो राशियों की स्थापना की । रोहगुप्त ने जीव, अजीव और नो-जीव नो-अजीव—इन तीन राशियों की स्थापना कर उसे पराजित कर दिया ।

रोहगुप्त ने वृश्चिकी, सर्पी, मूषिकी आदि विद्याएं भी विफल कर दीं । उसे पराजित कर रोहगुप्त अपने गुरु के पास आये, सारा घटनाचक्र निवेदित किया । गुरु ने कहा—“राशि दो हैं । तूने तीन राशि की स्थापना की, यह अच्छा नहीं किया । वापस सभा में जा, इसका प्रतिवाद कर ।” वे आग्रहवश गुरु की बात स्वीकार नहीं कर सके । गुरु उन्हें ‘कुत्रिकापण’ में ले गए । वहां जीव मांगा वह मिल गया, अजीव मांगा वह भी मिल गया, तीसरी राशि नहीं मिली । गुरु राज-सभा में गए और रोहगुप्त की पराजय की घोषणा की । इस पर भी उनका आग्रह कम नहीं हुआ । इसलिए उन्हें संघ से अलग कर दिया गया ।

७. अबद्धिकवाद

सातवें निह्वव गोष्ठामाहिल थे । आर्यरक्षित के उत्तराधिकारी दुर्बलिका पुष्यमित्र हुए । एक दिन वे विन्ध्य नामक मुनि को कर्म-प्रवाद का बन्धाधिकार पढ़ा रहे थे । उसमें कर्म के दो रूपों का वर्णन आया । कोई कर्म गीली दीवार पर मिट्टी की भांति आत्मा के साथ चिपक जाता है—एक रूप हो जाता है और कोई कर्म सूखी दीवार पर मिट्टी की भांति आत्मा का स्पर्श कर नीचे गिर जाता है—अलग हो जाता है ।

गोष्ठामाहिल ने यह सुना । वे आचार्य से कहने लगे—‘आत्मा और कर्म यदि एक रूप हो जाएं तो फिर वे कभी भी अलग-अलग नहीं हो सकते । इसलिए यह मानना ही संगत है कि कर्म आत्मा का स्पर्श करते हैं, उससे एकीभूत नहीं होते । वास्तव में बन्ध होता ही ।’ आचार्य ने दोनों दशाओं का मर्म बताया, पर उन्होंने अपना आग्रह नहीं छोड़ा । आखिर उन्हें संघ से पृथक् कर दिया गया ।

इन सात निह्ववों में जमाली, रोहगुप्त और गोष्ठामाहिल—

ये तीन अन्त तक अलग रहे, भगवान् के शासन में पुनः सम्मिलित नहीं हुए। शेष चार निह्वव प्रायश्चित्त लेकर पुनः शासन में आ गए।^१

स्थानांग में सात निह्ववों का ही उल्लेख है। जिनभद्रगणी आठवें निह्वव बोटिक का उल्लेख और करते हैं, जो वस्त्र त्यागकर संघ से पृथक् हुए थे।

श्वेताम्बर-दिगम्बर

दिगम्बर-सम्प्रदाय की स्थापना कब हुई, यह अब भी अनुसंधान सापेक्ष है। परम्परा से इसकी स्थापना वीर निर्वाण की छठी-सातवीं शताब्दी में मानी जाती है। श्वेताम्बर नाम कब पड़ा—वह भी अन्वेषण का विषय है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सापेक्ष शब्द हैं। इनमें से एक का नामकरण होने के बाद ही दूसरे के नामकरण की आवश्यकता हुई।

भगवान् महावीर के संघ में सचेल और अचेल दोनों प्रकार के श्रमणों का समवाय था। आचारांग में सचेल और अचेल दोनों प्रकार के श्रमणों का वर्णन है।

सचेल मुनि के लिए वस्त्रैषणा का वर्णन आयारचूला में है। उत्तराध्ययन में अचेल और सचेल दोनों अवस्थाओं का उल्लेख है। आगम-काल में अचेल मुनि जिनकल्पिक और सचेल मुनि स्थविर-कल्पिक कहलाते थे।

भगवान् महावीर के महान् व्यक्तित्व के कारण आचार की द्विविधता का जो समन्वित रूप हुआ, वह जम्बू स्वामी तक उसी रूप

१.

आचार्य	मत-स्थापना	उत्पत्ति-स्थान	कालमान
१. जमाली	बहुरतवाद	श्रावस्ती	कैवल्य के १४ वर्ष पश्चात्
२. तिष्यगुप्त	जीवप्रादेशिकवाद	ऋषभपुर	कैवल्य के १६ वर्ष पश्चात्
३. आषाढ-शिष्य	अव्यक्तवाद	श्वेतविका	निर्वाण के ११४ वर्ष पश्चात्
४. अश्वमित्र	सामुच्छेदिकवाद	मिथिला	निर्वाण के २२० वर्ष पश्चात्
५. गंग	द्वैक्रियवाद	उल्लुकातीर	निर्वाण के २२८ वर्ष पश्चात्
६. रोहगुप्त	त्रैराशिकवाद	अंतरंजिका	निर्वाण के ५५४ वर्ष पश्चात्
७. गोष्ठा-माहिल	अबद्धिकवाद	दशपुर	निर्वाण के ६०६ वर्ष पश्चात्

में चला। उनके पश्चात् आचार्य-परम्परा का भेद मिलता है। श्वेताम्बर-पट्टावलि के अनुसार जम्बू के पश्चात् शय्यम्भव, यशोभद्र, सम्भूतविजय और भद्रबाहु हुए और दिगम्बर-मान्यता के अनुसार नन्दी, नन्दीमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु हुए।

जम्बू के पश्चात् कुछ समय तक दोनों परम्पराएं आचार्यों का भेद स्वीकार करती हैं और भद्रबाहु के समय फिर दोनों एक बन जाती हैं। इस भेद और अभेद के सैद्धान्तिक मतभेद का निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। उस समय संघ एक था, फिर भी गण और शाखाएं अनेक थीं। आचार्य और चतुर्दशपूर्वी भी अनेक थे। किन्तु प्रभवस्वामी के समय से ही कुछ मतभेद के अंकुर फूटने लगे हों, ऐसा प्रतीत होता है।

शय्यम्भव ने दशवैकालिक में—‘वस्त्र रखना परिग्रह नहीं है’—इस पर जो बल दिया है और ज्ञातपुत्र महावीर ने संयम और लज्जा के निमित्त वस्त्र रखने को परिग्रह नहीं कहा है—इस वाक्य द्वारा भगवान् के अभिमत को साक्ष्य किया है।

उससे आन्तरिक मतभेद की सूचना मिलती है। कुछ शताब्दियों के पश्चात् शय्यम्भव का ‘मुच्छा परिग्रहो वृत्तो’ वाक्य परिग्रह की परिभाषा बन गया। उमास्वाति का ‘मूर्च्छा परिग्रहः’—यह सूत्र इसी का उपजीवी है।

जम्बू स्वामी के पश्चात् ‘दस वस्तुओं’ का लोप माना गया है। उनमें एक जिनकल्पिक अवस्था भी है। यह भी परम्परा-भेद की पुष्टि करता है। भद्रबाहु के समय [वी० नि० १६० के लगभग] पाटलिपुत्र में जो वाचना हुई, उन दोनों परम्पराओं का मतभेद तीव्र हो गया। इससे पूर्व श्रुत विषयक एकता थी। किन्तु लम्बे दुष्काल में अनेक श्रुतधर मुनि दिवंगत हो गए। भद्रबाहु की अनुपस्थिति में ग्यारह अंगों का संकलन किया गया। वह सबको पूर्ण मान्य नहीं हुआ। दोनों का मतभेद स्पष्ट हो गया। माथुरी वाचना में श्रुत का जो रूप स्थिर हुआ, उसका अचेलत्व-समर्थकों ने पूर्ण बहिष्कार कर दिया। इस प्रकार आचार और श्रुत विषयक मतभेद तीव्र होते-होते वीर-निर्वाण की छठी-सातवीं शताब्दी में एक मूल दो भागों में विभक्त हो गया।

श्वेताम्बर से दिगम्बर-शाखा निकली, यह भी नहीं कहा जा

सकता । दिगम्बर से श्वेताम्बर-शाखा का उद्भव हुआ, यह भी नहीं कहा जा सकता । प्रत्येक सम्प्रदाय अपने को मूल और दूसरे को अपनी शाखा बताता है । पर सच तो यह है कि साधना की दो शाखाएं, समन्वय और सहिष्णुता के विराट् प्रकाण्ड का आश्रय लिए हुई थीं, वे उसका निर्वाह नहीं कर सकीं, काल-परिपाक से पृथक् हो गईं । अथवा यों कहा जा सकता है कि एक दिन साधना के दो बीजों ने समन्वय के महातरु को अंकुरित किया और एक दिन वही महातरु दो भागों में विभक्त हो गया । किंवदन्ती के अनुसार वीर-निर्वाण ६०६ वर्ष के पश्चात् दिगम्बर-सम्प्रदाय का जन्म हुआ, यह श्वेताम्बर मानते हैं और दिगम्बर-मान्यता के अनुसार वीर-निर्वाण ६०६ में श्वेताम्बर-सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ ।

सचेलत्व और अचेलत्व का आग्रह और समन्वय-दृष्टि

जब तक जैन-शासन पर प्रभावशाली व्यक्तित्व का अनुशासन रहा, तब तक सचेलत्व और अचेलत्व का विवाद उग्र नहीं बना । कुन्दकुन्द के समय यह विवाद तीव्र हो उठा था । बीच-बीच में इसके समन्वय के प्रयत्न भी होते रहे हैं । यापनीयसंघ श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं का समन्वित रूप था । इस संघ के मुनि अचेलत्व आदि की दृष्टि से दिगम्बर-परंपरा का अनुसरण करते थे और मान्यता की दृष्टि से श्वेताम्बर थे । वे स्त्री-मुक्ति को मानते थे और श्वेताम्बर-सम्मत आगम-साहित्य का अध्ययन करते थे ।

समन्वय की दृष्टि और भी समय-समय पर प्रस्फुटित होती रही है । कहा गया है—

‘कोई मुनि दो वस्त्र रखता है, कोई तीन, कोई एक और कोई अचेल रहता है । वे परस्पर एक-दूसरे की अवज्ञा न करें; क्योंकि यह सब जिनाज्ञा-सम्मत है । यह आचार-भेद शारीरिक शक्ति और धृति के उत्कर्ष और अपकर्ष के आधार पर होता है । इसलिए सचेल मुनि अचेल मुनियों की अवज्ञा न करें और अचेल मुनि सचेल मुनियों को अपने से हीन न मानें । जो मुनि महाव्रत धर्म का पालन करते हैं और उद्यत-विहारी हैं, वे सब जिनाज्ञा में हैं ।’

चैत्यवास परम्परा

वीर-निर्वाण की नवीं शताब्दी [८५०] में चैत्यवास की स्थापना हुई । कुछ शिथिलाचारी मुनि उग्र-विहार छोड़कर मंदिरों

के परिपाश्वर्ष में रहने लगे। वीर-निर्वाण की दसवीं शताब्दी तक इनका प्रभुत्व नहीं बढ़ा। देवद्विगणी के दिवंगत होते ही इनका सम्प्रदाय शक्तिशाली हो गया। विद्या-बल और राज्य-बल दोनों के द्वारा इन्होंने उग्र-विहारी श्रमणों [संविग्नपाक्षिकों] पर पर्याप्त प्रहार किया। हरिभद्रसूरि ने 'सम्बोध-प्रकरण' में इनके आचार-विचार का सजीव वर्णन किया है।

अभयदेवसूरि देवद्विगणी के पश्चात् जैन-शासन की वास्तविक परम्परा का लोप मानते हैं।

चैत्यवास से पूर्व गण, कुल और शाखाओं का प्राचुर्य होते हुए भी उनमें पारस्परिक विग्रह या अपने गण का अहंकार नहीं था। वे प्रायः अविरोधी थे। अनेक गण होना व्यवस्था-सम्मत था। गणों के नाम विभिन्न कारणों से परिवर्तित होते रहते थे। भगवान् महावीर के उत्तराधिकारी सुधर्मा के नाम से गण को सौधर्म-गण कहा गया। समन्तभद्रसूरि ने वनवास स्वोकार किया, इसलिए उसे वनवासी गण कहा गया।

चैत्यवासी शाखा के उद्भव के साथ एक पक्ष संविग्न, विधि-मार्ग या सुविहितमार्ग कहलाया और दूसरा पक्ष चैत्यवासी।

स्थानकवासी

इस संप्रदाय का उद्भव मूर्ति-पूजा के अस्वीकार पक्ष में हुआ। विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में लोंकाशाह ने मूर्ति-पूजा का विरोध किया और आचार की कठोरता का पक्ष प्रबल किया। ये गृहस्थावस्था में ही थे। इनकी परम्परा में ऋषि लवजी, आचार्य धर्मसिंहजी और आचार्य धर्मदासजी प्रतिभाशाली आचार्य हुए। आचार्य धर्मदासजी के निन्यानवे शिष्य थे। उन्होंने अपने विद्वान् शिष्यों को बाईस ग्रूपों में बांटा और विभिन्न प्रांतों में उन्हें धर्म-प्रचार करने के लिए भेजा। उसके बाद लोंकाशाह का सम्प्रदाय 'बाईस टोला' या बाईस-संप्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। आगे चलकर, स्थानकों की मुख्यता के कारण यही 'स्थानकवासी' संप्रदाय के नाम से पहचाना जाने लगा। वर्तमान में इसका नाम 'श्रमण संघ' कर दिया गया है और यह भी अनेक विभागों में विभक्त दिखाई देता है।

तेरापंथ

स्थानकवासी संप्रदाय के आचार्य रुचनाथजी के शिष्य 'सन्त भीखणजी' [आचार्य भिक्षु] ने विक्रम संवत् १८१७ में तेरापंथ का प्रवर्तन किया। आचार्य भिक्षु ने आचार-शुद्धि और संगठन पर बल दिया। एकसूत्रता के लिए उन्होंने अनेक मर्यादाओं का निर्माण किया, शिष्य-प्रथा को समाप्त कर दिया। थोड़े ही समय में एक आचार्य, एक आचार और एक विचार के लिए तेरापंथ प्रसिद्ध हो गया। आचार्य भिक्षु आगम के अनुशीलन द्वारा कुछ नये तत्त्वों को प्रकाश में लाए। सामाजिक भूमिका में उस समय वे कुछ अपूर्व-से लगे। आध्यात्मिक दृष्टि से वे बहुत ही मूल्यवान् हैं। कुछ तथ्य वर्तमान समाज के पथ-दर्शक बन गए हैं।

दिगम्बर

दिगम्बर-परंपरा भी एक रूप नहीं रही। वह अनेक संघों में विभक्त हो गई। उसमें मूल पांच संघ हैं—मूल संघ, यापनीय संघ, द्राविड़ संघ, काष्ठा संघ और माथुर संघ। वर्तमान में उसके कई सम्प्रदाय हैं—तेरापंथ, बोसपंथ, तारणपंथ आदि।

जैन साहित्य

जैन साहित्य आगम और आगमेतर—इन दो भागों में बंटा हुआ है। साहित्य का प्राचीनतम भाग आगम कहलाता है।

सर्वज्ञ और सर्वदर्शी भगवान् ने अपने आपको देखा और समूचे लोक को देखा। भगवान् ने सत्य का प्रतिपादन किया। वे महान् प्रवचनकार थे, इसलिए वे तीर्थंकर कहलाए। भगवान् ने बन्ध, बन्ध-हेतु, मोक्ष और मोक्ष-हेतु का स्वरूप बताया।

भगवान् की वाणी आगम बन गई। उनके प्रधान शिष्य गौतम आदि ग्यारह गणधरों ने उसे सूत्र-रूप में गूथा। आगम के दो विभाग हो गए—सूत्रागम और अर्थागम। भगवान् के प्रकीर्ण उपदेश को अर्थागम और उनके आधार पर की गई सूत्र-रचना को सूत्रागम कहा गया। वे आचार्यों के लिए निधि बन गए। इसलिए उसका नाम गणि-पिटक हुआ। उस गुम्फन के मौलिक भाग बारह हुए। इसलिए उसका दूसरा नाम हुआ—द्वादशांगी। बारह अंग ये हैं—(१) आचार, (२) सूत्रकृत, (३) स्थान, (४) समवाय, (५) भगवती, (६) ज्ञाता-धर्मकथा, (७) उपासकदशा, (८) अन्तकृतदशा, (९) अनुत्तरोपपातिकदशा, (१०) प्रश्नव्याकरण, (११) विपाक, (१२) दृष्टिवाद।

१. तीर्थ शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। उनमें एक अर्थ है—प्रवचन। इसी आधार पर प्रवचनकार को तीर्थंकर कहा जाता था। बौद्ध साहित्य में छह तीर्थंकरों का उल्लेख मिलता है। शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में 'कपिल' आदि को भी तीर्थंकर कहा है। सूत्रकृतांगचूर्णि (पृ० ४७) में 'परतंत्रतीर्थंकरः' और (पृ० ३२२) में 'वयं तीर्थंकरा इति'—ऐसा उल्लेख मिलता।

प्रवचन के आधार पर धर्म की आराधना करने वाले साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविका को भी तीर्थ कहा जाता है।

स्थविरों ने इसका पल्लवन किया। आगम-सूत्रों की संख्या हजारों तक पहुंच गई।

भगवान् के चौदह हजार शिष्य प्रकरणकार [ग्रंथकार] थे। उस समय लिखने की परंपरा नहीं थी। सारा वाङ्मय स्मृति पर आधारित था।

आगमों का रचना-क्रम

दृष्टिवाद के पांच विभाग हैं :—परिकर्म, सूत्र, पूर्वानुयोग, पूर्वगत और चूलिका।

पूर्वगत के चौदह विभाग हैं। वे पूर्व कहलाते हैं। उनका परिमाण बहुत ही विशाल है। वे श्रुत या शब्द-ज्ञान के समस्त विषय के अक्षय-कोष होते हैं। उनकी रचना के बारे में दो विचारधाराएं हैं—पहली के अनुसार भगवान् महावीर के पूर्व ही ज्ञान-राशि का यह भाग चला आ रहा था, इसलिए उत्तरवर्ती साहित्य-रचना के समय इसे 'पूर्व' कहा गया।

दूसरी विचारणा के अनुसार द्वादशांगी से पूर्व ये रचे गए, इसलिए इन्हें 'पूर्व' कहा गया।

पूर्वों में सारा श्रुत समा जाता है। किन्तु साधारण बुद्धि वाले उसे पढ़ नहीं सकते। उनके लिए द्वादशांगी की रचना की गई। आगम-साहित्य में अध्ययन-परम्परा के तीन क्रम मिलते हैं। कुछ श्रमण चतुर्दशपूर्वी होते थे, कुछ द्वादशांगी के विद्वान् और कुछ सामायिक आदि ग्यारह अंगों के अध्येता। चतुर्दशपूर्वी श्रमणों का अधिक महत्त्व रहा है। उन्हें श्रुत-केवली कहा गया है।

पूर्वों की भाषा संस्कृत मानी जाती है। इनका विषय गहन और भाषा सहज सुबोध नहीं थी। इसलिए अल्पमति लोगों के लिए द्वादशांगी रची गई। कहा भी है :

“बालस्त्रीमन्दमूर्खाणां, नृणां चारित्रकाङ्क्षणाम्।

अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः, सिद्धान्तः प्राकृते कृतः॥”

आगमों की भाषा

जैन आगमों की भाषा अर्ध-मागधी है। आगम-साहित्य के अनुसार तीर्थंकर अर्ध-मागधी में उपदेश देते हैं। इसे उस समय की दिव्य भाषा और इसका प्रयोग करने वाले को भाषार्थ कहा है। यह प्राकृत का ही एक रूप है। यह मगध के एक भाग में

बोली जाती है, इसलिए अर्ध-मागधी कहलाती है। इसमें मागधी और दूसरी भाषाओं—अठारह देशी भाषाओं के लक्षण मिश्रित हैं। इसलिए यह अर्ध-मागधी कहलाती है। भगवान् महावीर के शिष्य मगध, मिथिला, कौशल आदि अनेक प्रदेश, वर्ग और जाति के थे। इसलिए जैन-साहित्य की प्राचीन-प्राकृत में देश्य शब्दों की बहुलता है। मागधी और देश्य शब्दों का मिश्रण अर्ध-मागधी कहलाता है। यह जिनदास महत्तर की व्याख्या है, जो सम्भवतः सबसे अधिक प्राचीन है। इसे आर्ष भी कहा जाता है। आचार्य हेमचंद्र ने इसे आर्ष कहा, उसका मूल आगम का ऋषि-भाषित शब्द है।

आगमों का प्रामाण्य और अप्रामाण्य

केवली, अवधि-ज्ञानी, मनःपर्यव-ज्ञानी, चतुर्दश-पूर्वधर और दश-पूर्वधर की रचना को आगम कहा जाता है। आगम में प्रमुख स्थान द्वादशांगी या गणिपिटक का है। वह स्वतः प्रमाण है। शेष आगम परतः प्रमाण हैं—द्वादशांगी के अविरोद्ध हैं, वे प्रमाण हैं, शेष अप्रमाण।

आगम-विभाग

आगम-साहित्य प्रणेता की दृष्टि से दो भागों में विभक्त होता है—अंग-प्रविष्ट और अनंग-प्रविष्ट। भगवान् महावीर के ग्यारह गणधरों ने जो साहित्य रचा, वह अंग-प्रविष्ट कहलाता है। स्थविरों ने जो साहित्य रचा, वह अनंग-प्रविष्ट कहलाता है। बारह अंगों के अतिरिक्त सारा आगम-साहित्य अनंग-प्रविष्ट है। गणधरों के प्रश्न पर भगवान् ने त्रिपदी—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का उपदेश दिया। उसके आधार पर जो आगम-साहित्य रचा गया, वह अंग-प्रविष्ट और भगवान् के मुक्त व्याकरण के आधार पर स्थविरों ने जो रचा, वह अनंग-प्रविष्ट है।

द्वादशांगी का स्वरूप सभी तीर्थंकरों के समक्ष नियत होता है। अनंग-प्रविष्ट नियत नहीं होता। अभी जो एकादश अंग उपलब्ध है वे सुधर्मा गणधर की वाचना के हैं, इसलिए सुधर्मा द्वारा रचित माने जाते हैं।

अनंग-प्रविष्ट आगम-साहित्य की दृष्टि से दो भागों में बंटता है। कुछेक आगम स्थविरों के द्वारा रचित हैं और कुछेक निर्यूढ।

जो आगम द्वादशांगी या पूर्वों से उद्धृत किये गए, वे निर्यूढ कहलाते हैं। दशवैकालिक, आचारांग का दूसरा श्रुतस्कंध, निशीथ, व्यवहार, वृहत्कल्प, दशाश्रुतस्कंध—ये निर्यूढ आगम हैं।

दशवैकालिक का निर्यूहण अपने पुत्र मनक की आराधना के लिए आर्य शय्यम्भव ने किया। शेष आगमों के निर्यूहक श्रुत-केवली भद्रबाहु हैं। प्रज्ञापना के कर्त्ता श्यामार्य, अनुयोगद्वार के कर्त्ता आर्य-रक्षित और नंदी के कर्त्ता देवद्विगणी क्षमाश्रमण माने जाते हैं।

भाषा की दृष्टि से आगमों को दो युगों में विभक्त किया जा सकता है। ई० पू० ४०० से ई० १०० तक का पहला युग है। इसमें रचित अंगों की भाषा अर्ध-मागधी है। दूसरा युग ई० १०० से ई० ५०० तक का है। इसमें रचित या निर्यूढ आगमों की भाषा जैन महाराष्ट्री प्राकृत है।

आगम वाचनाएँ

वीर-निर्वाण की दूसरी शताब्दी में [१६० वर्ष पश्चात्] पाटलिपुत्र में बारह वर्ष का दुर्भिक्ष हुआ। उस समय श्रमण-संघ छिन्न-भिन्न-सा हो गया। बहुत सारे बहुश्रुत मुनि अनशन कर स्वर्ग-वासी हो गए। आगम-ज्ञानकी शृंखला टूट-सी गई। दुर्भिक्ष मिटा, तब संघ मिला। श्रमणों ने ग्यारह अंग संकलित किए। बारहवें अंग के ज्ञाता भद्रबाहु स्वामी के सिवाय कोई नहीं रहा। वे नेपाल में महाप्राण-ध्यान की साधना कर रहे थे। संघ की प्रार्थना पर उन्होंने बारहवें अंग की वाचना देना स्वीकार कर लिया। पन्द्रह सौ साधु गए। उनमें पांच सौ विद्यार्थी थे और हजार साधु उनकी परिचर्या में नियुक्त थे। प्रत्येक विद्यार्थी-साधु के दो-दो साधु परिचर्याक थे। अध्ययन प्रारंभ हुआ। लगभग विद्यार्थी-साधु थक गए। एकमात्र स्थूलभद्र बचे रहे। उन्हें दसपूर्व की वाचना दी गई। बहिनों को चमत्कार दिखाने के लिए उन्होंने सिंह का रूप बना लिया। भद्रबाहु ने इसे जान लिया। वाचना बन्द कर दी। फिर बहुत आग्रह करने पर चार पूर्व दिये, पर उनका अर्थ नहीं बताया। स्थूलभद्र पाठ की दृष्टि से अंतिम श्रुतकेवली थे। अर्थ की दृष्टि से अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के बाद दस पूर्व का ज्ञान ही शेष रहा। वज्र-स्वामी अन्तिम दशपूर्वधर हुये। वज्रस्वामी के उत्तराधिकारी आर्य-रक्षित हुए। वे नौ पूर्व पूर्ण और दसवें पूर्व के २४ यविक जानते

थे। आर्यरक्षित के शिष्य दुर्बलिका पुष्यमित्र ने नौ पूर्वों का अध्ययन किया किन्तु अनभ्यास के कारण वे नवें पूर्व को भूल गए। विस्मृति का यह क्रम आगे बढ़ता गया।

आगम-संकलन का दूसरा प्रयत्न वीर-निर्वाण ८२७ और ८४० के बीच हुआ। आचार्य स्कन्दिल के नेतृत्व में आगम लिखे गए। यह कार्य मथुरा में हुआ, इसलिए इसे माथुरी-वाचना कहा जाता है। इसी समय वल्लभी में आचार्य नागार्जुन के नेतृत्व में आगम संकलित हुए। उसे वल्लभी वाचना या नागार्जुनीय-वाचना कहा जाता है।

माथुरी-वाचना के अनुयायियों के अनुसार वीर-निर्वाण के ६८० वर्ष पश्चात् तथा वल्लभी-वाचना के अनुयायियों के अनुसार वीर-निर्वाण के ६६३ वर्ष पश्चात् देवद्विगणी क्षमाश्रमण के नेतृत्व में श्रमण-संघ मिला। द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष के कारण बहुत सारे बहुश्रुत मुनि काल-कवलित हो चुके थे। अन्य मुनियों की संख्या भी कम हो गई थी। श्रुत की अवस्था चिन्तनीय थी। दुर्भिक्ष-जनित कठिनाइयों के कारण प्रासुक भिक्षाजीवी साधुओं की स्थिति बड़ी विचारणीय थी। क्रमशः श्रुत की विस्मृति हो रही थी।

देवद्विगणी ने अवशिष्ट बहुश्रुत मुनियों तथा श्रमण-संघ को एकत्रित किया। उन्हें जो श्रुतकंठस्थ था, वह उनसे सुना और लिपिबद्ध कर लिया। आगमों के आलापक न्यूनाधिक और छिन्न-भिन्न मिले। उन्होंने उन सबका अपनी मति से संकलन और संपादन कर पुस्तकारूढ कर लिया। इसके पश्चात् फिर कोई सर्वमान्य वाचना नहीं हुई। वीर-निर्वाण की दसवीं शताब्दी के बाद पूर्वज्ञान की परम्परा विच्छिन्न हो गई।

आगम-विच्छेद का क्रम

भद्रबाहु का स्वर्गवास वीर-निर्वाण के १७० वर्ष पश्चात् हुआ। अर्थ की दृष्टि से अन्तिम चार पूर्वों का विच्छेद इसी समय हुआ। दिगम्बर-परम्परा के अनुसार यह वीर-निर्वाण के १६२ वर्ष पश्चात् हुआ।

शाब्दी-दृष्टि से अन्तिम चार पूर्व स्थूलभद्र की मृत्यु के समय वीर-निर्वाण के २१६ वर्ष पश्चात् विच्छिन्न हुए। इनके बाद दशपूर्वों की परम्परा आर्यवज्र तक चली। उनका स्वर्गवास वीर-

निर्वाण के ५७१ [विक्रम संवत् १०१] वर्ष पश्चात् हुआ। उसी समय दसवां पूर्व विच्छिन्न हुआ। नवां पूर्व दुर्बलिका पुष्यमित्र की मृत्यु के साथ—वीर-निर्वाण ६०४ वर्ष [विक्रम संवत् १३४] में लुप्त हुआ।

पूर्वज्ञान का विच्छेद वीर-निर्वाण के हजार वर्ष पश्चात् हुआ।

दिगम्बर-मान्यता के अनुसार वीर-निर्वाण के ६२ वर्ष तक केवलज्ञान रहा। अंतिम केवलो जम्बूस्वामी हुए। उनके पश्चात् १०० वर्ष तक चौदह पूर्वों का ज्ञान रहा। अन्तिम चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु हुए। उनके पश्चात् १८३ वर्ष तक दशपूर्व रहे। धर्मसेन अन्तिम दशपूर्वी थे। उनके पश्चात् ग्यारह अंगों की परम्परा २२० वर्ष तक चली। उनके अंतिम अध्येता ध्रुवसेन हुए। उनके पश्चात् एक अंग [आचारांग] का अध्ययन ११८ वर्ष तक चला। इसके अंतिम अधिकारी लोहार्य हुए। वीर-निर्वाण ६८३ [विक्रम संवत् २१३] के पश्चात् आगम-साहित्य सर्वथा लुप्त हो गया।

दृष्टिवाद अंग के पूर्वगत-ग्रंथ का कुछ अंश ईस्वी प्रारंभिक शताब्दी में श्रीधर सेनाचार्य को ज्ञात था। उन्होंने देखा कि यदि वह शेषांश भी लिपिबद्ध नहीं किया जाएगा तो जिनवाणी का सर्वथा अभाव हो जाएगा। फलतः उन्होंने श्रीपुष्पदंत और श्रीभूतबलि सदृश मेधावी ऋषियों को बुलाकर गिरनार की चन्द्र गुफा में उसे लिपिबद्ध करा दिया। उन दोनों ऋषिवरों ने उस लिपिबद्ध श्रुतज्ञान को ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी के दिन सर्व संघ के समक्ष उपस्थित किया था। वह पवित्र दिन 'श्रुत पंचमी' के नाम से प्रसिद्ध है और साहित्योद्धार का प्रेरक कारण बन रहा है।

केवलज्ञान के लोप की मान्यता में दोनों सम्प्रदाय एकमत हैं। चार पूर्वों का लोप भद्रबाहु के पश्चात् हुआ इसमें ऐक्य है। केवल काल-दृष्टि से आठ वर्ष का अंतर है। श्वेताम्बर-मान्यता के अनुसार उनका लोप वीर-निर्वाण के १७० वर्ष पश्चात् हुआ और दिगम्बर-मान्यता के अनुसार १६२ वर्ष पश्चात्। यहां तक दोनों परम्पराएं आस-पास चलती हैं। इसके पश्चात् उनमें दूरी बढ़ती चली जाती है। दसवें पूर्व के लोप की मान्यता में दोनों में काल का बड़ा अंतर है। श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार दशपूर्वी वीर-निर्वाण से ५८४ वर्ष तक हुए और दिगम्बर-परम्परा के अनुसार २४५ वर्ष तक।

श्वेताम्बर एक पूर्व की परम्परा को देवद्विगणी तक ले जाते हैं और आगमों के कुछ मौलिक भाग को अब तक सुरक्षित मानते हैं। दिगम्बर वीर-निर्वाण ६८३ वर्ष पश्चात् आगमों का पूर्ण लोप स्वीकार करते हैं।

आगम का मौलिक रूप

दिगम्बर-परम्परा के अनुसार वीर-निर्वाण के ६८३ वर्ष के पश्चात् आगमों का मौलिक स्वरूप लुप्त हो गया।

श्वेताम्बर-मान्यता है कि आगम-साहित्य का मौलिक स्वरूप बड़े परिमाण में लुप्त हो गया किंतु पूर्ण नहीं, अब भी वह शेष है। अंगों और उपांगों की जो तीन बार संकलना हुई, उसमें मौलिक रूप अवश्य ही बदला है। उत्तरवर्ती घटनाओं और विचारणाओं का समावेश भी हुआ है। स्थानांग में सात निह्लवों और नवगणों का उल्लेख इसका स्पष्ट प्रमाण है। प्रश्न-व्याकरण का जो विषय-वर्णन है, वह वर्तमान रूप में उपलब्ध नहीं है। इस स्थिति के उपरान्त भी अंगों का अधिकांश भाग मौलिक है। भाषा और रचना-शैली की दृष्टि से वह प्राचीन है। आचार्यो रचना शैली की दृष्टि से शेष सब अंगों से भिन्न है। आज के भाषाशास्त्री उसे ढाई हजार वर्ष प्राचीन बतलाते हैं। सूत्रकृतांग, स्थानांग और भगवती भी प्राचीन हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं, आगम का मूल आज भी सुरक्षित है।

अनुयोग

अनुयोग का अर्थ है—सूत्र और अर्थ का उचित सम्बन्ध। वे चार हैं—चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग, द्रव्यानुयोग।

आर्यवज्र तक अनुयोग के विभाग नहीं थे। प्रत्येक सूत्र में चारों अनुयोगों का प्रतिपादन किया जाता था। आर्यरक्षित ने इस पद्धति में परिवर्तन किया। इसके निमित्त उनके शिष्य दुर्बलिका पुष्यमित्र बने। आर्यरक्षित के चार प्रमुख शिष्य थे—दुर्बलिका पुष्यमित्र, फल्गुरक्षित, विन्ध्य और गोष्ठामाहिल। विन्ध्य इनमें मेधावी था। उसने आर्य-रक्षित से प्रार्थना की—“प्रभो ! मुझे सहपाठ में अध्ययन-सामग्री बहुत विलम्ब से मिलती है। इसलिए शीघ्र मिले, ऐसी व्यवस्था कीजिए।” आर्यरक्षित ने उसे आलापक देने का भार दुर्बलिका पुष्यमित्र को सौंपा। कुछ दिन तक वे उसे

वाचना देते रहे। फिर एक दिन दुर्बलिका पुष्यमित्र ने आर्यरक्षित से निवेदन किया—“गुरुदेव ! इसे वाचना दूंगा तो मेरा नौवां पूर्व विस्मृत हो जाएगा। अब जो आर्यवर का आदेश हो वही करूँ।”

आर्यरक्षित ने सोचा—‘दुर्बलिका पुष्यमित्र की यह गति है। अब प्रज्ञा-हानि हो रही है। प्रत्येक सूत्र में चारों अनुयोगों को धारण करने की क्षमता रखने वाले अब अधिक समय तक नहीं रह सकेंगे।’ इस चिन्तन के पश्चात् उन्होंने आगमों को चार अनुयोगों में विभक्त कर दिया।

आगमों का पहला संस्करण भद्रबाहु के समय में हुआ था और दूसरा संस्करण आर्यरक्षित ने [वीर-निर्वाण ५८३-५९७ में] किया। इस संस्करण में व्याख्या की दुरुहता मिट गई। चारों अनुयोगों में आगमों का विभाग इस प्रकार किया :

- | | |
|---------------------------|---------------------------------|
| १. चरणकरणानुयोग | —कालिक सूत्र |
| २. धर्मकथानुयोग | —उत्तराध्ययन,
ऋषि भाषित आदि। |
| ३. गणितानुयोग [कालानुयोग] | —सूर्यप्रज्ञप्ति आदि |
| ४. द्रव्यानुयोग | —दृष्टिवाद |

लेखन और प्रतिक्रिया

जैन-साहित्य के अनुसार लिपि का प्रारम्भ प्रागैतिहासिक है। प्रज्ञापना में १८ लिपियों का उल्लेख मिलता है। भगवान् ऋषभनाथ ने अपनी पुत्री ब्राह्मी को १८ लिपियां सिखाईं, ऐसा उल्लेख विशेषावश्वकभाष्यवृत्ति, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र आदि में मिलता है। जैन-सूत्र वर्णित ७२ कलाओं में लेख-कला का पहला स्थान है। भगवान् ऋषभनाथ ने ७२ कलाओं का उपदेश किया तथा असि, मषि और कृषि—ये तीन प्रकार के व्यापार चलाए। इनमें आये हुए लेख-कला और मषि शब्द लिखने की परम्परा को कर्म-युग के आरम्भ तक ले जाते हैं। नन्दी-सूत्र में तीन प्रकार का अक्षर-श्रुत बतलाया है। इसमें पहला संज्ञाक्षर है। इसका अर्थ होता है—अक्षर की आकृति—लिपि।

लेख-सामग्री

प्रागैतिहासिक काल में लिखने की सामग्री कैसी थी, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। राजप्रश्नीयसूत्र में पुस्तक रत्न

का वर्णन करते हुए कम्बिका [कामी], मोंरा, गांठ, लिप्यासन [मषिपात्र], छंदन [ढक्कन], सांकली, मषि और लेखनी—लेख-सामग्री के इन उपकरणों की चर्चा की गई है। ज्ञापना में 'पोत्थारा' शब्द आता है जिसका अर्थ होता है—लिपिकार—पुस्तक-विज्ञान-आर्य। इसे शिल्पार्य में गिना गया है। इसी सूत्र में बताया गया है कि अर्ध-मागधी भाषा और ब्राह्मी लिपि का प्रयोग करने वाले भाषार्य होते हैं। भगवतीसूत्र के आरम्भ में ब्राह्मी लिपि को नमस्कार किया गया है, उसकी पृष्ठभूमि में भी लिखने का इतिहास है। भाव-लिपि के पूर्व वैसे ही द्रव्य-लिपि रहती है, जैसे भाव-श्रुत के पूर्व द्रव्य-श्रुत होता है। द्रव्य-श्रुत श्रूयमाण शब्द और पठ्यमान शब्द—दोनों प्रकार का होता है। इससे सिद्ध है कि द्रव्य-लिपि द्रव्य-श्रुत से अतिरिक्त नहीं, उसी का एक अंश है। पांच प्रकार की पुस्तकें बतलाई गई हैं—१. गण्डी, २. कच्छवी, ३. मुष्टि, ४. संपुट फलक, ५. सृपाटिका। हरिभद्रसूरि ने भी दशवैकालिक टीका में प्राचीन आचार्यों की मान्यता का उल्लेख करते हुए इन्हीं पुस्तकों का उल्लेख किया है। निशीथचूर्णि में भी इनका उल्लेख है। अनुयोगद्वार का पोत्थकम्म [पुस्तक-कर्म] शब्द भी लिपि की प्राचीनता का एक प्रबल प्रमाण है। टीकाकार ने पुस्तक का अर्थ ताड़-पत्र अथवा संपुटक-पत्र-संचय और कर्म का अर्थ उसमें वर्तिका आदि से लिखना किया है। इसी सूत्र में आये हुए पोत्थकार [पुस्तककार] शब्द का अर्थ टीकाकार ने 'पुस्तक के द्वारा जीविका चलाने वाला' किया है। जीवाभिगम के पोत्थार [पुस्तककार] शब्द का यही अर्थ होता है। भगवान् महावीर को पाठशाला में पढ़ने-लिखने की घटना भी तात्कालिक लेखन-प्रथा का एक प्रमाण है। वीर-निर्वाण की दूसरी शताब्दी में आक्रान्ता सम्राट् सिकन्दर के सेनापति निआवर्स ने लिखा है—'भारतवासी लोग कागज बनाते थे।' ईस्वी के दूसरे शतक में ताड़-पत्र और चौथे में भोज-पत्र लिखने के व्यवहार में लाए जाते थे। वर्तमान में उपलब्ध लिखित ग्रंथों में ई० स० पांचवीं में लिखे हुए पत्र मिलते हैं। इन तथ्यों के आधार पर हम जान सकते हैं कि भारत में लिखने की प्रथा प्राचीनतम है। किन्तु समय-समय पर इसके लिए किन-किन साधनों का उपयोग होता था, इसका दो

हजार वर्ष पुराना रूप जानना अति कठिन है। मोटे तौर पर हमें यह मानना होगा कि भारतीय वाङ्मय का भाग्य लम्बे समय तक कण्ठस्थ-परम्परा में ही सुरक्षित रहा है। जैन, बौद्ध और वैदिक—तीनों परम्पराओं के शिष्य उत्तराधिकार के रूप में अपने-अपने आचार्यों द्वारा ज्ञान का अक्षय-कोष पाते थे।

आगम लिखने का इतिहास

जैन दृष्टि के अनुसार श्रुत-आगम की विशाल धन-राशि चौदह पूर्व में संचित है। वे कभी लिखे नहीं गए। किन्तु अमुक-अमुक परिमाण स्याही से उनके लिखे जा सकने की कल्पना अवश्य हुई है। सबसे पहले वीर-निर्वाण की नौवीं शताब्दी [८२७-८४०] में आगमों को संकलित कर लिखा गया और आर्यस्कन्दिल ने साधुओं को अनुयोग की वाचना दी। इसलिए उनकी वाचना माथुरी-वाचना कहलाई। माथुरी वाचना के ठीक समय पर वलभी में नागार्जुनसूरि ने श्रमण-संघ को एकत्र कर आगमों को संकलित किया। नागार्जुन और अन्य श्रमणों को जो आगम और प्रकरण याद थे, वे लिखे गए। यह 'नागार्जुनीय-वाचना' कहलाती है। दूसरी बार वीर-निर्वाण ६८० या [६६३] वर्ष में देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने फिर आगमों को पुस्तकारूढ़ किया और संघ के समक्ष उसका वाचन किया। यह कार्य वलभी में संपन्न हुआ। पूर्वोक्त दोनों वाचनाओं के समय लिखे गए आगमों के अतिरिक्त अन्य प्रकरण-ग्रन्थ भी लिखे गए। दोनों वाचनाओं के सिद्धांतों का समन्वय किया गया और जो महत्त्वपूर्ण भेद थे उन्हें वाचना-भेद के रूप में स्वीकार किया गया। इन भेदों का उल्लेख आगम के व्याख्या-ग्रंथों में आज भी उपलब्ध है।

प्रतिक्रिया

आगमों के लिपिवद्ध होने के उपरान्त भी एक विचारधारा ऐसी रही कि साधु पुस्तक लिख नहीं सकते और अपने साथ रख भी नहीं सकते। पुस्तक लिखने और रखने में दोष बताते हुए लिखा है :

१. अक्षर लिखने में कुन्थु आदि त्रस जीवों की हिंसा होती है, इसलिए पुस्तक लिखना संयम-विराधना का हेतु है।

२. पुस्तकों को ग्रामान्तर ले जाते हुए कन्धे छिल जाते हैं,

व्रण हो जाते हैं ।

३. उनके छेदों की ठीक तरह 'पडिलेहना' नहीं हो सकती ।

४. मार्ग में भार बढ़ जाता है ।

५. वे कुन्थु आदि जीवों के आश्रय होने के कारण अधिकरण हैं अथवा चोर आदि से चुराए जाने पर अधिकरण हो जाते हैं ।

६. तीर्थकरों ने पुस्तक नामक उपधि रखने की आज्ञा नहीं दी है ।

७. उनके पास में होते हुए सूत्र-गुणन में प्रमाद होता है—
आदि-आदि ।

साधु जितनी बार पुस्तकों को बांधते हैं, खोलते हैं और अक्षर लिखते हैं उन्हें उतने ही चतुर्लघुकों का दण्ड आता है और आज्ञा-लोप आदि दोष लगते हैं । आचार्यश्री भिक्षु के समय में भी ऐसी विचारधारा थी । उन्होंने इसका खण्डन भी किया है ।

अंग और उपांग तथा छेद और मूल

दिगम्बर-साहित्य में आगमों के दो ही विभाग मिलते हैं—
अंग-प्रविष्ट और अंग-बाह्य ।

श्वेताम्बर परम्परा में भी मूल विभाग यही रहा । स्थानांग, नन्दी आदि में यही मिलता है । आगम-विच्छेद काल में पूर्वी और अंगों के निर्यूहण और शेषांश रहे, उन्हें पृथक् संज्ञाएं मिलीं ।

आगम-पुरुष की कल्पना हुई, तब अंग-प्रविष्ट को उसके अंग-स्थानीय और बारह सूत्रों को उपांग-स्थानीय माना गया । पुरुष के जैसे दो पैर, दो जंघाएं, दो उरु, दो गात्रार्ध, दो बाहु, ग्रीवा और सिर—ये बारह अंग होते हैं, वैसे ही श्रुतपुरुष के आचार आदि बारह अंग होते हैं । इसलिए ये अंग-प्रविष्ट कहलाते हैं ।

कान, नाक, आंख, जंघा, हाथ और पैर—ये उपांग हैं । श्रुत-पुरुष के भी औपपातिक आदि बारह उपांग हैं ।

बारह अंगों और उनके उपांगों की व्यवस्था इस प्रकार है :

अङ्ग	उपांग
आचार	औपपातिक
सूत्रकृत्	राजप्रश्नीय
स्थान	जीवाभिगम
समवाय	प्रज्ञापना

भगवती	सूर्यप्रज्ञप्ति
ज्ञाताधर्मकथा	जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
उपासकदशा	चन्द्रप्रज्ञप्ति
अन्तकृतदशा	कल्पिका
अनुत्तरोपपातिकदशा	कल्पावतंसिका
प्रश्नव्याकरण	पुष्पिका
विपाक	पुष्पचूलिका
दृष्टिवाद	वृष्णिदशा

दशवैकालिक और उत्तराध्ययन—ये दो मूल सूत्र माने जाते हैं। नन्दी और अनुयोगद्वार—ये दो चूलिका सूत्र हैं। व्यवहार, बृहत्कल्प, निशीथ और दशाश्रुतस्कन्ध—ये चार छेद सूत्र हैं।
इस प्रकार अंग-बाह्य-श्रुत की समय-समय पर विभिन्न रूपों में योजना हुई है।

आगमों का वर्तमान संस्करण देवद्विगणी का है। अंगों के कर्ता गणधर हैं। अंग-बाह्य-श्रुत के कर्ता स्थविर हैं। उन सबका संकलन और सम्पादन करने वाले देवद्विगणी हैं। इसलिए वे आगमों के वर्तमान-रूप के कर्ता भी माने जाते हैं।

आगम का व्याख्यात्मक साहित्य

आगम के व्याख्यात्मक साहित्य का प्रारम्भ निर्युक्ति से होता है और वह 'स्तबक' और 'जोड़ों' तक चलता है।

निर्युक्तियाँ और निर्युक्तिकार

द्वितीय भद्रबाहु ने दस निर्युक्तियाँ लिखीं :

- | | |
|---------------------------|-------------------------------|
| १. आवश्यक-निर्युक्ति | ६. दशाश्रुतस्कन्ध-निर्युक्ति |
| २. दशवैकालिक-निर्युक्ति | ७. बृहत्कल्प-निर्युक्ति |
| ३. उत्तराध्ययन-निर्युक्ति | ८. व्यवहार-निर्युक्ति |
| ४. आचारांग-निर्युक्ति | ९. सूर्यप्रज्ञप्ति-निर्युक्ति |
| ५. सूत्रकृतांग-निर्युक्ति | १०. ऋषिभाषित-निर्युक्ति |

इनका रचनाकाल वीर-निर्वाण की पांचवीं-छठी शताब्दी है। बृहत्कल्प की निर्युक्ति भाष्य-मिश्रित अवस्था में मिलती है। व्यवहार-निर्युक्ति भी भाष्य में मिली हुई है। सूर्यप्रज्ञप्ति और ऋषि-भाषित—ये दोनों निर्युक्तियाँ अनुपलब्ध हैं। कुछ निर्युक्तियाँ मूल निर्युक्तियों की पूरक हैं, जैसे :

मूल

१. आवश्यक-निर्युक्ति
२. दशवैकालिक-निर्युक्ति
३. बृहत्कल्प-निर्युक्ति
४. आचारांग-निर्युक्ति

पूरक

- ओघ-निर्युक्ति
- पिण्ड-निर्युक्ति
- पंचकल्प-निर्युक्ति
- निशीथ-निर्युक्ति

इनकी भाषा प्राकृत है। इनमें संक्षिप्त शैली के आधार पर अनेक विषय और पारिभाषिक शब्द प्रतिपादित हैं। ये भाष्य और चूर्णियों के लिए आधारभूत हैं। ये पद्यबद्ध व्याख्याएं हैं।

भाष्य और भाष्यकार

आगमों और निर्युक्तियों के आशय को स्पष्ट करने के लिए भाष्य लिखे गए। अब तक दस भाष्य उपलब्ध हैं :

- | | |
|----------------------|---------------------------|
| १. आवश्यक-भाष्य | ६. व्यवहार-भाष्य |
| २. दशवैकालिक-भाष्य | ७. निशीथ-भाष्य |
| ३. उत्तराध्ययन-भाष्य | ८. जीतकल्प-भाष्य |
| ४. बृहत्कल्प-भाष्य | ९. ओघनिर्युक्ति-भाष्य |
| ५. पंचकल्प-भाष्य | १०. पिण्डनिर्युक्ति-भाष्य |

इनमें बृहत्कल्प और ओघनिर्युक्ति पर दो-दो भाष्य मिलते हैं—लघुभाष्य और बृहद्भाष्य। इनकी भाषा प्राकृत है। ये भी पद्यबद्ध हैं। विशेषावश्यक-भाष्य और जीतकल्प-भाष्य—ये आचार्य जिनभद्रगणी [वि० सातवीं शताब्दी] की रचनाएं हैं।

बृहद्कल्प-लघु-भाष्य और पंचकल्प-महाभाष्य—ये संघदास-गणी [वि० छठी शताब्दी] की रचनाएं हैं।

चूर्णियां और चूर्णिकार

चूर्णियां गद्यात्मक हैं। इनकी भाषा प्राकृत या संस्कृत-मिश्रित प्राकृत है। निम्न आगम-ग्रंथों पर चूर्णियां मिलती हैं :

- | | |
|----------------|--------------------|
| १. आवश्यक | ७. सूत्रकृतांग |
| २. दशवैकालिक | ८. निशीथ |
| ३. नन्दी | ९. व्यवहार |
| ४. अनुयोगद्वार | १०. दशाश्रुतस्कन्ध |
| ५. उत्तराध्ययन | ११. बृहत्कल्प |
| ६. आचारांग | १२. जीवाभिगम |

१३. भगवती

१६. पंचकल्प

१४. महा-निशीथ

१७. ओघनिर्युक्ति

१५. जीतकल्प

प्रथम आठ चूर्णियों के कर्त्ता जिनदासमहत्तर हैं। इनका जीवनकाल विक्रम की सातवीं शताब्दी है। जीतकल्प-चूर्णी के कर्त्ता सिद्धसेनसूरि हैं। उनका जीवन-काल विक्रम की बारहवीं शताब्दी है। बृहत्कल्प चूर्णी प्रलम्बसूरि की कृति है। शेष चूर्णिकारों के विषय में अभी जानकारी नहीं मिल रही है। दशवैकालिक की एक चूर्णि और है। उसके कर्त्ता हैं—अगस्त्यसिंह मुनि।

टीकाएं और टीकाकार

आगमों के प्रथम संस्कृत-टीकाकार हरिभद्रसूरि हैं। उन्होंने आवश्यक, दशवैकालिक, नन्दी, अनुयोगद्वार, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति और जीवाभिगम—इन आगमों पर टीकाएं लिखीं।

विक्रम की तीसरी शताब्दी में उमास्वाति ने जैन परम्परा में जो संस्कृत-वाङ्मय का द्वार खोला, वह अब विस्तृत होने लगा। शीलांकसूरि ने आचारांग और सूत्रकृतांग पर टीकाएं लिखीं। शेष नौ अंगों के टीकाकार हैं—अभयदेवसूरि। अनुयोगद्वार पर मलधारी हेमचन्द्र की टीका है। नन्दी, प्रज्ञापना, व्यवहार, चंद्रप्रज्ञप्ति, जीवाभिगम, आवश्यक, बृहत्कल्प, राजप्रश्नीय आदि के टीकाकार मलयगिरि हैं।

आगम-साहित्य की समृद्धि के साथ-साथ न्यायशास्त्र के साहित्य का भी विकास हुआ। वैदिक और बौद्ध न्यायशास्त्रियों ने अपने-अपने तत्त्वों को तर्क की कसौटी पर कसकर जनता के सम्मुख रखने का यत्न किया तब जैन न्यायशास्त्री भी इस ओर मुड़े। विक्रम की पांचवीं शताब्दी में न्याय का जो नया स्रोत बहा, वह बारहवीं शताब्दी में बहुत व्यापक हो गया।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में न्यायशास्त्रियों की गति कुछ शिथिल हो गई। आगम के व्याख्याकारों की परम्परा आगे भी चली। विक्रम की अठारहवीं शताब्दी में पार्श्वचन्द्रसूरि तथा स्थानकवासी परम्परा के धर्मसी मुनि ने गुजराती-राजस्थानी-मिश्रित भाषा में आगमों पर स्तबक लिखे। विक्रम की उन्नीसवीं सदी में श्रीमद् भिक्षुस्वामी और जयाचार्य आगम के यशस्वी

व्याख्याता हुए। श्रीमद् भिक्षु स्वामी ने आगम के सैकड़ों दुरूह स्थलों पर प्रकीर्ण व्याख्याएं लिखी हैं। जयाचार्य ने आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध, ज्ञाता, प्रज्ञापना, उत्तराध्ययन [२७ अध्ययन] और भगवती-सूत्र पर पद्यात्मक व्याख्या लिखी। उन्होंने आचारांग [द्वितीय श्रुतस्कन्ध] पर वार्तिक लिखा।

इस प्रकार जैन-साहित्य आगम, आगम व्याख्या साहित्य और न्याय साहित्य से बहुत ही समृद्ध है। इनके आधार पर ही हम जैन दर्शन के हृदय को छूने का यत्न करेंगे।

परवर्ती प्राकृत-साहित्य

आगम-लोप के पश्चात् दिगम्बर-परम्परा में जो साहित्य रचा गया, उसमें सर्वोपरि महत्त्व षट्-खण्डागम और कषाय-प्राभृत का है।

पूर्वों और अंगों के बचे-खुचे अंशों के लुप्त होने का प्रसंग आया तब आचार्य धरसेन [विक्रम की दूसरी शताब्दी] ने भूतबलि और पुष्यदन्त नामक दो साधुओं को श्रुताभ्यास कराया। इन दोनों ने षट्खण्डागम की रचना की। लगभग इसी समयमें आचार्य गुणधर हुए। उन्होंने कषाय-प्राभृत रचा। ये पूर्वों के शेषांश हैं। इसलिए इन्हें पूर्वों से उद्धृत माना जाता है। इन पर प्राचीन कई टीकाएं लिखी गई हैं। वे उपलब्ध नहीं हैं। जो टीका वर्तमान में उपलब्ध है, वह आचार्य वीरसेन की है। इन्होंने विक्रम सम्वत् ८७३ में षट्-खण्डागम की ७२,००० श्लोक-प्रमाण धवला टीका लिखी।

कषाय-पाहुड़ पर २०,००० श्लोक-प्रमाण टीका लिखी। वह पूर्ण न हो सकी, बीच में ही उनका स्वर्गवास हो गया। उसे उन्हीं के शिष्य जिनसेनाचार्य ने पूर्ण किया। उसकी पूर्ति विक्रम सम्वत् ८९४ में हुई। उसका शेष भाग ४०,००० श्लोक-प्रमाण और लिखा गया। दोनों को मिलाकर इसका प्रमाण ६०,००० श्लोक होता है। इसका नाम जय-धवला है। यह प्राकृत और संस्कृत के संक्रांति-काल की रचना है। इसलिए इसमें दोनों भाषाओं का मिश्रण है।

षट्-खण्ड का अंतिम भाग महाबंध है। इसके रचयिता आचार्य भूतबलि हैं। यह ४१,००० श्लोक-प्रमाण है। इन तीनों ग्रन्थों में कर्म का बहुत ही सूक्ष्म विवेचन है।

विक्रम की दूसरी शती में आचार्य कुन्दकुन्द हुए। इन्होंने

अध्यात्मवाद का एक नया स्रोत प्रवाहित किया। इनका झुकाव निश्चय-नय की ओर अधिक था। प्रवचनसार, समयसार और पंचास्तिकाय—ये इनकी प्रमुख रचनाएं हैं। इनमें आत्मानुभूति की वाणी आज भी उनके अन्तर्-दर्शन की साक्षी है।

विक्रम की दसवीं शताब्दी में आचार्य नेमिचन्द्र चक्रवर्ती हुए। उन्होंने गोम्मटसार और लब्धिसार-क्षपणसार—इन दो ग्रन्थों की रचना की। ये बहुत ही महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। ये प्राकृत-शौरसेनी भाषा की रचनाएं हैं।

श्वेताम्बर आचार्यों ने मध्ययुग में जैन-महाराष्ट्री में लिखा। विक्रम की तीसरी शती में शिवशर्मसूरि ने कम्मपयडी, उमास्वाति ने जम्बूद्वीप समास लिखा। विक्रम की छठी शताब्दी में संघदास क्षमाश्रमण ने वसुदेवहिण्डी नामक एक कथा-ग्रन्थ लिखा, इसका दूसरा खण्ड धर्मसेनगणी ने लिखा। इसमें वासुदेव के पर्यटन के साथ-साथ अनेक लोक-कथाओं, चरित्रों, विविध वस्त्रों, उत्सवों और विनोद-साधनों का वर्णन किया है। जर्मन विद्वान् आल्सफोर्ड ने इसे बृहत्कथा के समकक्ष माना है।

विक्रम की सातवीं शताब्दी में जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण हुए। विशेषावश्यक भाष्य इनकी प्रसिद्ध कृति है। यह जैनागमों की चर्चाओं का एक महान् कोष है। विशेषणवती, बृहत्-संग्रहणी और बृहत्-क्षेत्रसमास भी इनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

हरिभद्रसूरि विक्रम की आठवीं शती के विद्वान् आचार्य हैं। 'समराइच्च-कहा' इनका प्रसिद्ध कथा-ग्रन्थ है। संस्कृत-युग में भी प्राकृत-भाषा में रचना का क्रम चलता रहा है।

मध्यकाल में निमित्त, गणित, ज्योतिष, सामुद्रिक-शास्त्र, आयुर्वेद, मन्त्रविद्या, स्वप्न-विद्या, शिल्प-शास्त्र, व्याकरण, छन्द, कोश आदि विषयक अनेक ग्रन्थ लिखे गए हैं।

संस्कृत साहित्य

विशिष्ट व्यक्तियों के अनुभव, उनकी संग्रहात्मक निधि, साहित्य और उसका आधार भाषा—ये तीनों चीजें तत्त्वों की संवाहक होती हैं। सूरज, हवा और आकाश की तरह ये तीनों चीजें सबके लिए समान हैं। यह एक ऐसी भूमिका है, जहां पर सम्प्रदायिक, सामाजिक और जातीय या इसी प्रकार के दूसरे-

दूसरे सब भेद मिट जाते हैं।

संस्कृत-साहित्य की समृद्धि के लिए किसने प्रयास किया या किसने नहीं किया—यह विचार कोई महत्त्व नहीं रखता। वाङ्मय-सरिता सदा अभेद की भूमि में बहती है। फिर भी जैन, बौद्ध और वैदिक की त्रिपथ-गामिनी विचारधाराएं हैं। वे त्रिपथगा [गंगा] की तरह लम्बे अरसे तक बही हैं।

प्राचीन वैदिकाचार्यों ने अपने सारभूत अनुभवों को वैदिक संस्कृत में रखा। जैनों ने अर्ध-मागधी भाषा और बौद्धों ने पालि भाषा के माध्यम से अपने विचार प्रस्तुत किए। इसके बाद में इन तीनों धर्मों के उत्तरवर्ती आचार्यों ने जो साहित्य बनाया, वह लौकिक [वर्तमान में प्रचलित] संस्कृत को पल्लवित करने वाला ही है।

लौकिक संस्कृत में लिखने के सम्बन्ध में किसने पहल की और कौन पीछे से लिखने लगा, यह प्रश्न हो सकता है किन्तु ग्रन्थ किसने कम रचे और किसने अधिक रचे—यह कहना कठिन है।

संस्कृत और प्राकृत—ये दोनों श्रेष्ठ भाषाएं हैं और ऋषियों की भाषाएं हैं। इस तरह आगम-प्रणेताओं ने संस्कृत प्राकृत की समकक्षता स्वीकार करके संस्कृत का अध्ययन करने के लिए जैनों का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

संस्कृत भाषा तार्किकों के तीखे तर्क-बाणों के लिए तूपीर बन चुकी थी। इसलिए इस भाषा का अध्ययन न करने वालों के लिए अपने विचारों की सुरक्षा खतरे में थी। अतः सभी दार्शनिक संस्कृत भाषा को अपनाने के लिए तेजी से पहल करने लगे।

जैनाचार्य भी इस दौड़ में पीछे नहीं रहे। वे समय की गति को पहचानने वाले थे, इसलिए उनकी प्रतिभा इस और चमकी और स्वयं इस ओर मुड़े। उन्होंने पहले ही चरण में प्राकृत भाषा की तरह संस्कृत भाषा पर भी अधिकार जमा लिया।

प्रादेशिक-साहित्य

ई० पूर्व पांचवीं शताब्दी में जैन धर्म का अस्तित्व दक्षिण भारत में था। ई० पूर्व तीसरी शताब्दी में भद्रबाहु बारह हजार मुनियों के साथ दक्षिण भारत में गए। सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य भी उनके साथ थे। उनके वहां जाने से धर्म बहुत प्रभावी हो गया।

दिगम्बर-आचार्यों का प्रमुख विहार-क्षेत्र दक्षिण बन गया। दक्षिण की भाषाओं में उन्होंने विपुल साहित्य रचा।

कन्नड़ भाषा में कवि 'पोन्न' का शान्तिपुराण, 'पंप' का आदिपुराण और भारत आज भी बेजोड़ माना जाता है। 'रत्न' का गदा-युद्ध भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। ईसा की दसवीं शती से सोलहवीं शती तक जैन महर्षियों ने काव्य, व्याकरण, शब्दकोश, ज्योतिष, वैद्यक आदि विविध विषयों पर अनेक ग्रंथ लिखे और कर्णाटक संस्कृति को पर्याप्त समृद्ध बनाया। दक्षिण भारत की पांच द्राविड़-भाषाओं में से कन्नड़ एक प्रमुख भाषा है। उसमें जैन-साहित्य और साहित्यकार आज भी अमर हैं। तमिल भी दक्षिण की प्रसिद्ध भाषा है। इसका जैन-साहित्य भी बहुत समृद्ध है। इसके पांच महाकाव्यों में से तीन महाकाव्य चिन्तामणि, सिलप्पडिकारम् और वल्लैतापति—जैन कवियों द्वारा रचित हैं। 'नन्नोल' तमिल का विश्रुत व्याकरण है। कुरल और नालदियार जैसे महान् ग्रन्थ भी जैन महर्षियों की कृतियां हैं।

गुजराती साहित्य

उत्तर भारत श्वेताम्बर-आचार्यों का विहार-क्षेत्र रहा। उत्तर भारत की भाषाओं में दिगम्बर-साहित्य प्रचुर है, पर श्वेताम्बर-साहित्य की अपेक्षा वह कम है। आचार्य हेमचन्द्र के समय से गुजरात जैन-साहित्य और संस्कृति से प्रभावित रहा है। आनन्दघनजी, यशोविजयजी आदि अनेक योगियों और महर्षियों ने इस भाषा में अनेक रचनाएं प्रस्तुत कीं।

राजस्थानी साहित्य

राजस्थानी में जैन-साहित्य विशाल है। इस सहस्राब्दी में राजस्थान जैन मुनियों का प्रमुख विहार-स्थल रहा है। यति, संविग्न, स्थानकवासी और तेरापंथी—सभी ने राजस्थानी में लिखा है। रास और चरितों की संख्या प्रचुर है। पूज्य जयमलजी का प्रदेशी राजा का चरित्र बहुत ही रोचक है। कवि समयसुन्दरजी की रचनाओं का संग्रह अगरचंदजी नाहटा ने अभी प्रकाशित किया है। फुटकर ढालों का संकलन किया जाए तो इतिहास को नई दिशाएं मिल सकती हैं।

राजस्थानी भाषाओं का स्रोत प्राकृत और अपभ्रंश है। काल परिवर्तन के साथ-साथ दूसरी भाषाओं का सम्मिश्रण हुआ है।

राजस्थानी साहित्य तीन शैलियों में लिखा गया है—१. जैन शैली, २. चारणी शैली, ३. लौकिक शैली। जैन-शैली के लेखक जैन-साधु और यति अथवा उनसे सम्बन्ध रखने वाले लोग हैं। इस में प्राचीनता की झलक मिलती है। अनेक प्राचीन शब्द और मुहावरे इसमें आगे तक चले आये हैं।

जैनों का संबंध गुजरात के साथ विशेष रहा है। अतः जैन-शैली में गुजरात का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। चारणी शैली के लेखक प्रधानतया चारण और गौण रूप में अन्यान्य लोग हैं। जैनों, ब्राह्मणों, राजपूतों, भाटों आदि ने भी इस शैली में रचना की है। इसमें भी प्राचीनता की पुट मिलती है पर वह जैन-शैली से भिन्न प्रकार की है। यद्यपि जैनों की अपभ्रंश रचनाओं में भी, विशेषकर युद्ध-वर्णन में, उसका मूल देखा जा सकता है। डिगल वस्तुतः अपभ्रंश शैली का ही विकसित रूप है।

तेरापंथ के आचार्य भिक्षु ने राजस्थानी साहित्य में एक नया स्रोत बहाया। अध्यात्म, अनुशासन, ब्रह्मचर्य, धार्मिक-समीक्षा, रूपक, लोक-कथा और अपनी अनुभूतियों से उसे व्यापकता की ओर ले चले। उन्होंने गद्य भी बहुत लिखा। उनकी सारी रचनाओं का परिमाण ३८,००० श्लोक के लगभग है। मारवाड़ी के ठेठ शब्दों में लिखना और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना उनकी अपनी विशेषता है। उनकी वाणी का स्रोत क्रान्ति और शान्ति—दोनों धाराओं में बहा है।

नव पदार्थ, विनीत-अविनीत, व्रताव्रत, अनुकंपा, शील की नववाड़ आदि उनकी प्रमुख रचनाएं हैं।

तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य महाकवि थे। उन्होंने अपने जीवन में लगभग साढ़े तीन लाख श्लोक-प्रमाण गद्य-पद्य लिखे।

उनकी लेखनी में प्रतिभा का चमत्कार था। वे साहित्य और अध्यात्म के क्षेत्र में अनिरुद्ध गति से चले। उनकी सफलता का स्वतः प्रमाण उनकी अमर कृतियां हैं। उनका तत्त्व-ज्ञान प्रौढ़ था। श्रद्धा, तर्क और व्युत्पत्ति की त्रिवेणी में आज भी उनका हृदय बोल रहा

है। जिन-वाणी पर उनकी अटूट श्रद्धा थी। विचार-भेद की दुनिया के लिए वे तार्किक थे। साहित्य, संगीत, कला, संस्कृति—ये उनके व्युत्पत्ति-क्षेत्र थे। उनका सर्वतोमुखो व्यक्तित्व उनके युग-पुरुष होने की साक्षी भर रहा है।

हिन्दी साहित्य

हिन्दी का आदि-स्रोत अपभ्रंश है। विक्रम की दसवीं शताब्दी से जैन विद्वान् इस ओर झुके। तेरहवीं शती में आचार्य हेमचंद्र ने अपने प्रसिद्ध व्याकरण सिद्ध-हेमशब्दानुशासन में इसका भी व्याकरण लिखा। उसमें उदाहरण-स्थलों में अनेक उत्कृष्ट कोटि के दोहे उद्धृत किए हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बर, दोनों परंपराओं के मनीषी इसी भाषा में पुराण, महापुराण, स्तोत्र आदि लिखते ही चले गए। महाकवि स्वयम्भू ने पद्मचरित लिखा। राहुलजी के अनुसार तुलसी रामायण उससे बहुत प्रभावित रहा है। राहुलजी ने स्वयम्भू को विश्व महाकवि माना है। चतुर्मुखदेव, कवि रङ्गधु, महाकवि पुष्पदन्त के पुराण अपभ्रंश में हैं। योगीन्द्र का योगसागर और परमात्मप्रकाश संत-साहित्य के प्रतीक-ग्रंथ हैं।

हिन्दी के नये-नये रूपों को जैन-साहित्य अपना योग देता रहा। पिछली चार-पांच शताब्दियों में वह योगदान उल्लासवर्धक नहीं रहा। इस शताब्दी में फिर जैन-समाज इस ओर जागरूक है—ऐसा प्रतीत हो रहा है।

अनेक जैन आचार्य, मुनि और बहुश्रुत मनीषी नए-नए साहित्य का सृजन कर हिन्दी साहित्य भंडार को भर रहे हैं। तेरापंथ के आचार्यश्री तुलसी तथा अनेक मुनियों ने इस दिशा में अभूतपूर्व योगदान किया है। जैन आगमों में हिन्दी में व्याख्यायित करने का उनका संकल्प क्रियान्वित हो रहा है और साथ-साथ सामयिक विषयों पर शताधिक ग्रंथ लिखे जा चुके हैं। आज भी मनीषी मुनि इस ओर गतिशील हैं। तेरापंथ द्विशताब्दी, कालूजन्म शताब्दी तथा जयाचार्य निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष में राजस्थानी और हिन्दी भाषा के अनेक ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। जैन ध्यान-योग की विलुप्त परंपरा का संधान करने वाले अनेक ग्रंथ हिन्दी में प्रकाशस्तंभ बन चुके हैं।

व्रत

जैन संस्कृति व्रात्यों की संस्कृति है। व्रात्य शब्द का मूल व्रत है। उसका अर्थ है—संयम और संवर। वह आत्मा के सान्निध्य और बाह्य जगत् के प्रति अनासक्ति का सूचक है। व्रत का उपजीवी तत्त्व तप है। उसके उद्भव का मूल जीवन का समर्पण है।

जैन परंपरा तप को अहिंसा, समन्वय, मैत्री और क्षमा के रूप में मान्य करती है। भगवान् महावीर ने अज्ञानपूर्ण तप का उतना ही विरोध किया है, जितना कि ज्ञानपूर्ण तप का समर्थन। अहिंसा के पालन में बाधा न आए, उतना तप सब साधकों के लिए आवश्यक है। विशेष तप उन्हीं के लिए है—जिसमें आत्मबल या दैहिक विराग तीव्रतम हो। निर्ग्रन्थ शब्द अपरिग्रह और जैन शब्द कषाय-विजय का प्रतीक है। इस प्रकार जैन-संस्कृति आध्यात्मिकता, त्याग, सहिष्णुता, अहिंसा, समन्वय, मैत्री, क्षमा, अपरिग्रह और आत्म-विजय की धाराओं का प्रतिनिधित्व करती हुई विभिन्न युगों में विभिन्न नामों द्वारा अभिव्यक्त हुई है।

एक शब्द में जैन-संस्कृति की आत्मा उत्सर्ग है। बाह्य स्थितियों में जय-पराजय की अनवरत शृंखला चलती है। वहां पराजय का अंत नहीं होता। उसका पर्यवसान आत्म-विजय में होता है। यह निर्द्वन्द्व स्थिति है। जैन-विचारधारा की बहुमूल्य देन संयम है।

सुख का वियोग मत करो, दुःख का संयोग मत करो—सबके प्रति संयम करो। 'सुख दो और दुःख मिटाओ,' की भावना में आत्म विजय का भाव नहीं होता। दुःख मिटाने की वृत्ति और शोषण, उत्पीड़न तथा अपहरण, साथ-साथ चलते हैं। इधर शोषण और उधर दुःख मिटाने की वृत्ति—यह उच्च संस्कृति नहीं।

सुख का वियोग और दुःख का संयोग मत करो—यह भावना आत्म-विजय की प्रतीक है। सुख का वियोग किए बिना शोषण

नहीं होता, अधिकारों का हरण और द्वन्द्व नहीं होता ।

सुख मत लूटो और दुःख मत दो—इस उदात्त-भावना में आत्म-विजय का स्वर जो है, वह है ही । उसके अतिरिक्त जगत् की नैसर्गिक स्वतंत्रता का भी महान् निर्देश है ।

प्राणी अपने अधिकारों में रमणशील और स्वतंत्र है, यही उनकी सहज सुख की स्थिति है ।

सामाजिक सुख-सुविधा के लिए इसकी उपेक्षा की जाती है, किन्तु उस उपेक्षा को शाश्वत सत्य समझना भूल से परे नहीं होता ।

दस प्रकार का संयम, दस प्रकार का संवर और दस प्रकार का विरमण है, वह सब स्वात्मोमुखी वृत्ति है, या है निवृत्ति, या है निवृत्ति-संवलित प्रवृत्ति ।

दस आशंसा के प्रयोग संसारोन्मुखी वृत्ति है । जैन-संस्कृति में प्रमुख वस्तु है—‘दृष्टिसम्पन्नता’—सम्यक्-दर्शन । संसारोन्मुखी वृत्ति अपनी रेखा पर और आत्मोन्मुखी वृत्ति अपनी रेखा पर अवस्थित रहती है, तब कोई द्विविधा नहीं होती । अव्यवस्था तब होती है, जब दोनों का मूल्यांकन एक ही दृष्टि से किया जाए । संसारोन्मुखी वृत्ति में मनुष्य अपने लिए मनुष्येतर जीवों के जीवन का अधिकार स्वीकार नहीं करते । उनके जीवन का कोई मूल्य नहीं आंकते । दुःख मिटाने और सुखी बनाने की वृत्ति व्यावहारिक है, किन्तु क्षुद्र भावना, स्वार्थ और संकुचित वृत्तियों को प्रश्रय देने वाली है । आरंभ और परिग्रह—ये व्यक्ति को धर्म से दूर किए रहते हैं । बड़ा व्यक्ति अपने हित के लिए छोटे व्यक्ति की, बड़ा राष्ट्र अपने हित के लिए छोटे राष्ट्र की निर्मम उपेक्षा करते नहीं सकुचाता ।

बड़े से भी कोई बड़ा होता है और छोटे से भी कोई छोटा । बड़े द्वारा अपनी उपेक्षा देख छोटा तिलमिलाता है, किन्तु छोटे के प्रति कठोर बनते वह कुछ भी नहीं सोचता । यहां गतिरोध होता है ।

जैन विचारधारा यहां बताती है—दुःखनिवर्तन और सुख-दान की प्रवृत्ति को समाज की विवशतात्मक अपेक्षा समझो, उसे ध्रुव सत्य मान मत चलो । सुख मत लूटो, दुःख मत दो—इसे विकसित करो । इसका विकास होगा तो ‘दुःख मिटाओ, सुखी बनाओ’ की भावना अपने आप पूरी होगी । दुःखी न बनाने की भावना बढेगी

तो दुःख अपने आप मिट जाएगा। सुख न लूटने की भावना दृढ़ होगी तो सुखी बनाने की आवश्यकता ही क्या होगी ?

संक्षेप में तत्त्व यह है—दुःख-सुख को ही जीवन का ह्रास और विकास मत समझो। संयम जीवन का विकास है और असंयम ह्रास। असंयमी थोड़ों को व्यावहारिक लाभ पहुंचा सकता है, किन्तु वह छलना, क्रूरता और शोषण को नहीं त्याग सकता।

संयमी थोड़ों का व्यावहारिक हित न साध सके, फिर भी वह सबके प्रति निश्छल, दयालु और शोषण-मुक्त रहता है। मनुष्य-जीवन उच्च संस्कारी बने, इसके लिए उच्च वृत्तियां चाहिए; जैसे :

१. आर्जव या ऋजुभाव, जिससे विश्वास बढ़े।
२. मार्दव या दयालुता, जिससे मैत्री बढ़े।
३. लाघव या नम्रता, जिससे सहृदयता बढ़े।
४. क्षमा या सहिष्णुता, जिससे धैर्य बढ़े।
५. शौच या पवित्रता, जिससे एकता बढ़े।
६. सत्य या प्रामाणिकता, जिससे निर्भयता बढ़े।
७. माध्यस्थ्य या आग्रहहीनता, जिससे सत्य-स्वीकार की शक्ति बढ़े।

किन्तु इन सबको संयम की अपेक्षा है। 'एक ही साधै सब सधै'—संयम की साधना हो तो सब सध जाते हैं, नहीं तो नहीं। जैन विचारधारा इस तथ्य को पूर्णता का मध्य-बिन्दु मानकर चलती है। अहिंसा इसी की उपज है, जो 'जैन विचारणा' की सर्वोपरि देन मानी जाती है।

अहिंसा और मुक्ति—श्रमण-संस्कृति की ये दो ऐसी आलोक-रेखाएं हैं, जिनसे जीवन के वास्तविक मूल्यों को देखने का अवसर मिलता है।

जब जीवन का धर्म—अहिंसा या कष्ट-सहिष्णुता और साध्य—मुक्ति या स्वातन्त्र्य बन जाता है, तब व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की उन्नति रोके नहीं रुकती। आज की प्रगति की कल्पना के साथ ये दो धाराएं और जुड़ जाएं तो साम्य आयेगा—भोगपरक नहीं, त्यागपरक; वृत्ति बढ़ेगी—दानमय नहीं, किन्तु अग्रहणमय; नियंत्रण बढ़ेगा—दूसरों का नहीं, किन्तु अपना।

अहिंसा का विकास संयम के आधार पर हुआ है। जर्मन

विद्वान् अलबर्ट स्वीजर ने अपने ग्रंथ 'इण्डियन थाट एण्ड इट्स डेवलप्मेन्ट' में इस तथ्य का बड़ी गम्भीरता से प्रतिपादन किया है। उनके मतानुसार—'यदि अहिंसा के उपदेश का आधार सचमुच ही करुणा होती तो यह समझना कठिन हो जाता कि उसमें न मारने, कष्ट न देने की ही सीमाएं कैसे बंध सकीं और दूसरों को सहायता प्रदान करने की प्रेरणा से वह कैसे विलग रह सकी है? यह दलील कि संन्यास की भावना मार्ग में बाधक बनती है, सत्य का मिथ्या आभास मात्र होगा। थोड़ी से थोड़ी करुणा भी इस संकुचित सीमा के प्रति विद्रोह कर देती; परन्तु ऐसा कभी नहीं हुआ।'

अतः अहिंसा का उपदेश करुणा की भावना से उत्पन्न न होकर संसार से पवित्र रहने की भावना पर आधृत है। यह मूलतः कार्य के आचरण से नहीं, अधिकतर पूर्ण बनने के आचरण से संबंधित है। यदि प्राचीन काल का धार्मिक भारतीय जीवित प्राणियों के साथ सम्पर्क में अकार्य के सिद्धान्त का दृढ़तापूर्वक अनुसरण करता था तो वह अपने लाभ के लिए, न कि दूसरे जीवों के प्रति करुणा के भाव से। उसके लिए हिंसा एक ऐसा कार्य था, जो वर्ज्य था।

यह सच है कि अहिंसा के उपदेश में सभी जीवों के समान स्वभाव को मान लिया गया है परन्तु इसका आविर्भाव करुणा से नहीं हुआ है। भारतीय संन्यास में अकर्म का साधारण सिद्धान्त ही इसका कारण है।

'अहिंसा स्वतन्त्र न होकर करुणा की भावना की अनुयायी होनी चाहिए। इस प्रकार उसे वास्तविकता से व्यावहारिक विवेचन के क्षेत्र में पदार्पण करना चाहिए। नैतिकता के प्रति शुद्ध भक्ति उसके अन्तर्गत वर्तमान मुसीबतों का सामना करने की तत्परता से प्रकट होती है।'

'पर फिर कहना पड़ता है कि भारतीय विचारधारा हिंसा न करना और किसी को क्षति न पहुंचाना, ऐसा ही कहती रही है, तभी वह शताब्दी गुजर जाने पर भी उच्च नैतिक विचार की अच्छी तरह रक्षा कर सकी जो इसके साथ सम्मिलित है।'

'जैन-धर्म में सर्वप्रथम भारतीय संन्यास ने आचारगत विशेषता प्राप्त की। जैन-धर्म मूल से ही नहीं मारने और कष्ट न देने

के उपदेश को महत्त्व देता है जबकि उपनिषदों में इसे मानो प्रसंग-वश कह दिया गया है। साधारणतः यह कैसे संगत हो सकता है कि यज्ञों में जिनका नियमित कार्य था पशु-हत्या करना, उन ब्राह्मणों में हत्या न करने का विचार कैसे उठा होगा? ब्राह्मणों ने अहिंसा का उपदेश जैनों से ग्रहण किया होगा, इस विचार की ओर संकेत करने के पर्याप्त कारण हैं।'

'हत्या न करने और कष्ट न पहुंचाने के उपदेश की स्थापना मानव के आध्यात्मिक इतिहास में महानतम अवसरों में से एक है। जगत् और जीवन के प्रति अनासक्ति और कार्य-त्याग के सिद्धान्त से प्रारम्भ होकर प्राचीन भारतीय विचारधारा इस महान् खोज तक पहुंच जाती है, जहां आचार की उतनी अधिक उन्नति नहीं हो सकी थी। मेरा जहां तक ज्ञान है, जैन-धर्म में ही इसकी प्रथम स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई।'

सामान्य धारणा यह है कि जैन-संस्कृति निराशावाद या पलायनवाद की प्रतीक है। किन्तु यह चिन्तन पूर्ण नहीं है। जैन-संस्कृति का मूल तत्त्ववाद है। कल्पनावाद में कोरी आशा होती है। तत्त्ववाद में आशा और निराशा का यथार्थ अंकन होता है। ऋग्वेद के गीतों में वर्तमान भावना आशावादी है। उसका कारण तत्त्व चिंतन की अल्पता है। जहां चिंतन की गहराई है वहां विषाद की छाया पायी जाती है। उषा को सम्बोधित कर कहा गया है कि वह मनुष्य-जीवन को क्षीण करती है। उल्लास और विषाद विश्व के यथार्थ रूप हैं। समाज या वर्तमान के जीवन की भूमिका में केवल उल्लास की कल्पना होती है। किन्तु जब अनन्त अतीत और भविष्य के गर्भ में मनुष्य का चिंतन गतिशील होता है, समाज के कृत्रिम बन्धन से उन्मुक्त हो जब मनुष्य 'व्यक्ति' स्वरूप की ओर दृष्टि डालता है, कोरी कल्पना से प्रसूत आशा के अन्तरिक्ष से उतर वह पदार्थ की भूमि पर चला जाता है, समाज और वर्तमान की वेदी पर खड़े लोग कहते हैं—यह निराशा है, पलायन है। तत्त्व-दर्शन की भूमिका में से निहारने वाले लोग कहते हैं कि यह वास्तविक आनन्द की ओर प्रयाण है। पूर्व औपनिषदिक विचारधारा के समर्थकों को ब्रह्मद्विष् [वेद से घृणा करने वाले] और देवनिन्द [देवताओं की निन्दा करने वाले] कहा गया। भगवान् पार्श्व उसी परम्परा के ऐतिहासिक

व्यक्ति हैं। इनका समय हमें उस काल में ले जाता है जब ब्राह्मण-ग्रंथों का निर्माण हो रहा था। जिसे पलायनवाद कहा गया उससे उपनिषद्-साहित्य मुक्त नहीं रहा।

परिग्रह के लिए सामाजिक प्राणी कामनाएं करते हैं। जैन उपासकों का कामना-सूत्र है :

१. कब मैं अल्प-मूल्य एवं बहु-मूल्य परिग्रह का प्रत्याख्यान करूंगा।

२. कब मैं मुण्ड हो, गृहस्थपन छोड़, साधुव्रत स्वीकार करूंगा।

३. कब मैं अपश्चिम-मारणान्तिक-संलेखना यानी अन्तिम अनशन में शरीर को झोंसकर—जुटाकर और भूमि पर गिरी हुई वृक्ष की डाली की तरह अडोल रखकर मृत्यु की अभिलाषा न करता हुआ विचरूंगा।

जैनाचार्य धार्मिक विचार में बहुत ही उदार रहे हैं। उन्होंने अपने अनुयायियों को केवल धार्मिक नेतृत्व दिया। उन्हें परिवर्तन-शील सामाजिक व्यवस्था में कभी नहीं बांधा। समाज-व्यवस्था को समाजशास्त्रियों के लिए सुरक्षित छोड़ दिया। धार्मिक विचारों के एकत्व की दृष्टि से जैन-समाज है किंतु सामाजिक बन्धनों की दृष्टि से जैन-समाज का कोई अस्तित्व नहीं है। जैनों की संख्या करोड़ों से लाखों में हो गई, उसका कारण यह हो सकता है और इस सिद्धांत-वादिता के कारण वह धर्म के विशुद्ध रूप की रक्षा भी कर सका है।

जैन-संस्कृति का रूप सदा व्यापक रहा है। उसका द्वार सबके लिए खुला रहा है। उस व्यापक दृष्टिकोण का मूल असांप्रदायिकता और जातीयता का अभाव है। व्यवहार-दृष्टि में जैनों के सम्प्रदाय हैं। पर उन्होंने धर्म को सम्प्रदाय के साथ नहीं बांधा। वे जैन-सम्प्रदायों को नहीं, जैनत्व को महत्त्व देते हैं। जैनत्व का अर्थ है—सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-चारित्र्य की आराधना। इनकी आराधना करने वाला अन्य सम्प्रदाय के वेश में भी मुक्त हो जाता है, गृहस्थ के वेश में भी मुक्त हो जाता है।

कला

कला विशुद्ध सामाजिक तत्त्व है। उसका धर्म या दर्शन से कोई संबंध नहीं है। पर धर्म जब शासन बनता है, उसका अनुगमन

करनेवाला समाज बनता है, तब कला भी उसके सहारे पल्लवित होती है।

जैन-परंपरा में कला शब्द बहुत ही व्यापक-अर्थ में व्यवहृत हुआ है। भगवान् ऋषभदेव ने अपने राज्यकाल में पुरुषों के लिए बहत्तर और स्त्रियों के लिए चौसठ कलाओं का निरूपण किया। टोकाकारों ने कला का अर्थ वस्तु-परिज्ञान किया है। इसमें लेख गणित, चित्र, नृत्य, गायन, युद्ध, काव्य, वेशभूषा, स्थापत्य, पाक, मनोरंजन आदि अनेक परिज्ञानों का समावेश किया गया है।

धर्म भी एक कला है। यह जीवन की सबसे बड़ी कला है। जीवन के सारस्य की अनुभूति करनेवाले तपस्वियों ने कहा है—‘जो व्यक्ति सब कलाओं में प्रवर धर्मकला को नहीं जानता, वह बहत्तर कलाओं में कुशल होते हुए भी अकुशल है।’ जैन-धर्म का आत्मपक्ष धर्म-कला के उन्नयन में ही संलग्न रहा। बहिरंग-पक्ष सामाजिक होता है। समाज-विचार के साथ-साथ ललित कला का भी विस्तार हुआ।

चित्रकला

जैन-चित्रकला का श्री गणेश तत्त्व-प्रकाशन से होता है। गुरु अपने शिष्यों को विश्व व्यवस्था के तत्त्व स्थापना के द्वारा समझाते हैं। स्थापना तदाकार और अतदाकार दोनों प्रकार की होती है। तदाकार स्थापना के दो प्रयोजन हैं—तत्त्व-प्रकाशन और स्मृति। तत्त्व-प्रकाशन-हेतुक स्थापना के आधार पर चित्रकला और स्मृति-हेतुक स्थापना के आधार पर मूर्तिकला का विकास हुआ। ताड़पत्र और पत्तों पर ग्रंथ लिखे गए और उनमें चित्र किये गए। विक्रम की दूसरी सहस्राब्दी में हजारों ऐसी प्रतियां लिखी गईं जो कलात्मक चित्राकृतियों के कारण अमूल्य हैं।

ताड़पत्रीय या पत्रीय प्रतियों के पट्टों, चातुर्मासिक प्रार्थनाओं, कल्याण-मन्दिर, भक्तामर आदि स्तोत्रों के चित्रों को देखे बिना मध्यकालीन चित्रकला का इतिहास अधूरा ही रहता है।

योगी मारा गिरिगुहा [रामगढ़ की पहाड़ी, सरगूजा] और सिततन्नवासल [पद्दुकोट्टे राज्य] के भित्ति चित्र अत्यन्त प्राचीन और सुन्दर हैं।

चित्रकला की विशेष जानकारी के लिए जैन चित्रकल्पद्रुम

देखना चाहिए ।

लिपि-कला

अक्षर-विन्यास भी एक सुकुमार कला है । जैन साधुओं ने इसे बहुत ही विकसित किया । वे सौन्दर्य और सूक्ष्मता—दोनों दृष्टियों से इसे उन्नति के शिखर तक ले गए ।

पन्द्रह सौ वर्ष पहले लिखने का कार्य प्रारम्भ हुआ और वह अब तक विकास पाता रहा है । लेखन-कला में यतियों का कौशल विशेष रूप से प्रस्फुटित हुआ है ।

तेरापंथ के साधुओं ने भी इस कला में चमत्कार प्रदर्शित किया है । सूक्ष्म लिपि में ये अग्रणी हैं । कई मुनियों ने ग्यारह इंच लम्बे और पांच इंच चौड़े पन्ने में लगभग अस्सी हजार अक्षर लिखे हैं । ऐसे पत्र आज तक अपूर्व माने जाते रहे हैं ।

मूर्तिकला और स्थापत्य-कला

कालक्रम से जैन-परम्परा में प्रतिमा-पूजन का कार्य प्रारम्भ हुआ । सिद्धान्त की दृष्टि से इसमें दो धाराएँ हैं । कुछ जैन संप्रदाय मूर्ति-पूजा करते हैं और कुछ नहीं करते । किन्तु कला की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण विषय है ।

वर्तमान में सबसे प्राचीन जैन-मूर्ति पटना के लोहनीपुर स्थान से प्राप्त हुई है । यह मूर्ति मौर्यकाल की मानी जाती है और पटना म्यूजियम में रखी हुई है । इसकी चमकदार पॉलिश अभी तक भी ज्यों की त्यों बनी है । लाहौर, मथुरा, लखनऊ, प्रयाग आदि के म्यूजियमों में भी अनेक जैन-मूर्तियाँ मौजूद हैं । इनमें से कुछ गुप्त-कालीन हैं । श्री वासुदेव उपाध्याय ने लिखा है कि मथुरा में चौबीसवें तीर्थंकर वर्धमान महावीर की एक मूर्ति मिली है जो कुमारगुप्त के समय में तैयार की गई थी । वास्तव में मथुरा में जैन-मूर्तिकला की दृष्टि से भी बहुत काम हुआ है । श्री रायकृष्णदास ने लिखा है कि मथुरा की शृंगकालीन कला मुख्यतः जैन-सम्प्रदाय की है ।

खण्डगिरि और उदयगिरि में ई० पू० १८८-३० तक की शृंगकालीन मूर्ति-शिल्प के अद्भुत चातुर्य के दर्शन होते हैं । वहां पर इस काल की कटी हुई सौ के लगभग जैन गुफाएँ हैं, जिनमें मूर्ति-शिल्प भी हैं । दक्षिण भारत के अलगामले नामक स्थान में खुदाई में जैन-मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं, उनका समय ई० पू० ३००-२०० के

लगभग बताया जाता है। उन मूर्तियों की सौम्याकृति द्राविड़कला में अनुपम मानी जाती है। श्रवण बेलगोला की प्रसिद्ध जैन-मूर्ति तो संसार की अद्भुत वस्तुओं में से है। यह गोमटेश्वर बाहुबली की सत्तावन फुट [पांच सौ धनुष्य] ऊंची मूर्ति एक ही पत्थर में उत्कीर्ण है। इसकी स्थापना राजमल्ल नरेश के प्रधानमन्त्री तथा सेनापति चामुण्डराय ने ई० सन् ९८३ में की थी। यह अपने अनुपम सौन्दर्य और अद्भुत कान्ति से प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। यह विश्व को जैन-मूर्तिकला की अनुपम देन है।

मध्य भारत [वडवानी] में भगवान् ऋषभदेव की ८४ फुट ऊंची मूर्ति एशिया की सबसे बड़ी मूर्ति मानी जाती है।

मौर्य और शुंग-काल के पश्चात् भारतीय मूर्तिकला की मुख्य धाराएं हैं :

१. गांधार-कला—जो उत्तर-पश्चिम में पनपी।

२. मथुरा-कला—जो मथुरा के समीपवर्ती क्षेत्रों में विकसित हुई।

३. अमरावती की कला—जो कृष्णा नदी के तट पर पल्लवित हुई।

जैन मूर्तिकला का विकास मथुरा-कला से हुआ।

जैन स्थापत्य-कला के सर्वाधिक प्राचीन अवशेष उदयगिरि, खण्डगिरि एवं जूनागढ़ की गुफाओं में मिलते हैं।

उत्तरवर्ती स्थापत्य की दृष्टि से चित्तौड़ का 'कीर्ति-स्तम्भ', आबू के मन्दिर एवं राणकपुर के जैन मन्दिरों के स्तम्भ भारतीय शैली के रक्षक रहे हैं।

जैन-पर्व

पर्व अतीत की घटनाओं के प्रतीक होते हैं। जैनों के मुख्य पर्व चार हैं :

१. अक्षय तृतीया

२. पर्युषण और दसलक्षण

३. महावीर जयन्ती

४. दीपावली

अक्षय तृतीया का सम्बन्ध आद्य तीर्थंकर भगवान् ऋषभनाथ से है। उन्होंने वैशाख सुदी तृतीया के दिन बारह महीनों की तपस्या

का इक्षु-रस से पारणा किया। इसलिए वह इक्षु तृतीया या अक्षय तृतीया कहलाता है।

पर्युषण पर्व आराधना का पर्व है। भाद्र बदी १२ या १३ से भाद्र सुदी ४ या ५ तक यह पर्व मनाया जाता है। इसमें तपस्या, स्वाध्याय, ध्यान आदि आत्मशोधक प्रवृत्तियों की आराधना की जाती है। इसका अन्तिम दिन सम्बत्सरी कहलाता है। वर्ष भर की भूलों के लिए क्षमा लेना और क्षमा देना इसकी स्वयंभूत विशेषता है। यह पर्व मैत्री और उज्ज्वलता का संदेशवाहक है।

दिगम्बर-परंपरा में भाद्र शुक्ला पंचमी से चतुर्दशी तक दस-लक्षण पर्व मनाया जाता है। इसमें प्रतिदिन क्षमा आदि दस धर्मों में से एक-एक धर्म की आराधना की जाती है, इसे दस लक्षण पर्व कहा जाता है।

महावीर जयन्ती चैत्र शुक्ला १३ को भगवान् महावीर के जन्म दिवस के उपलक्ष में मनाई जाती है।

दीपावली का सम्बन्ध भगवान् महावीर के निर्वाण से है। कार्तिकी अमावस्या को भगवान् का निर्वाण हुआ था। उस समय देवों और राजाओं ने प्रकाश किया था उसी का अनुसरण दीप जलाकर किया जाता है।

दीपावली की उत्पत्ति के संबंध में श्रीराम तथा भगवान् श्रीकृष्ण के जो प्रसंग हैं वे केवल जनश्रुति पर आधारित हैं, किंतु इस त्यौहार का जो संबंध जैनियों से है वह इतिहास-सम्मत है। प्राचीनतम जैन ग्रंथों में यह बात स्पष्ट शब्दों में कही गई है कि कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि तथा अमावस्या के दिन प्रभात के बीच सन्धि-वेला में भगवान् महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया था तथा इस अवसर पर देवों तथा इन्द्रों ने दीपमालिका सजाई थी।

आचार्य जिनसेन ने हरिवंशपुराण में स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि दीपावली का महोत्सव भगवान् महावीर के निर्वाण की स्मृति में मनाया जाता है। दीपावली की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यही प्राचीनतम प्रमाण है।

जैन धर्म का प्रभाव क्षेत्र

भगवान् महावीर के युग में जैन धर्म भारत के विभिन्न भागों में फैला। सम्राट् अशोक के पौत्र संप्रति ने जैन-धर्म का संदेश भारत

से बाहर भी पहुंचाया। उस समय जैन-मुनियों का विहार-क्षेत्र भी विस्तृत हुआ। श्री विश्वम्भरनाथ पांडे ने अहिंसक-परम्परा की चर्चा करते हुए लिखा है—“ईस्वी सन् की पहली शताब्दी में और उसके बाद के हजार वर्षों तक जैन-धर्म मध्यपूर्व के देशों में किसी न किसी रूप में यहूदी धर्म, ईसाई धर्म और इस्लाम धर्म को प्रभावित करता रहा है।” प्रसिद्ध जर्मन इतिहास-लेखक बान क्रैमर के अनुसार मध्य-पूर्व में प्रचलित ‘समानिया’ संप्रदाय ‘श्रमण’ शब्द का अपभ्रंश है। इतिहास लेखक जी० एफ० मूर लिखता है कि ‘हजरत ईसा के जन्म की शताब्दी से पूर्व ईराक, स्याम और फिलस्तीन में जैन-मुनि और बौद्ध भिक्षु सैकड़ों की संख्या में फैले हुए थे।’ ‘सियाहत नाम ए नासिर’ का लेखक लिखता है कि ईस्लाम धर्म के कलन्दरी तबके पर जैन-धर्म का काफी प्रभाव पड़ा था। कलन्दर चार नियमों का पालन करते थे—साधुता, शुद्धता, सत्यता और दरिद्रता। वे अहिंसा पर अखण्ड विश्वास रखते थे।

जैन-धर्म का प्रसार अहिंसा, शांति मैत्री और संयम का प्रसार था। इसलिए उस युग को भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग कहा जाता है। पुरातत्त्व-विद् पी०सी० राय चौधरी के अनुसार—“यह धर्म धीरे-धीरे फैला, जिस प्रकार ईसाई-धर्म का प्रचार यूरोप में धीरे-धीरे हुआ। श्रेणिक, कुणिक, चंद्रगुप्त, संप्रति खारवेल तथा अन्य राजाओं ने जैन-धर्म को अपनाया। वे शताब्द भारत के हिन्दू-शासन के वैभवपूर्ण युग थे, जिन युगों में जैन-धर्म-सा महान् धर्म प्रचारित हुआ।”

कभी-कभी एक विचार प्रस्फुटित होता है—जैन-धर्म के अहिंसा सिद्धांत ने भारत को कायर बना दिया, पर यह सत्य से बहुत दूर है। अहिंसक कभी कायर नहीं होता। यह कायरता और उसके परिणामस्वरूप परतन्त्रता हिंसा के उत्कर्ष से, आपसी वैमनस्य से आयी और तब आयी जब जैन-धर्म के प्रभाव से भारतीय मानस दूर हो रहा था।

भगवान् महावीर ने समाज के जो नैतिक मूल्य स्थिर किए उनमें दो बातें सामाजिक राजनैतिक दृष्टि से भी अधिक महत्वपूर्ण थीं।

१. अनाक्रमण—संकल्पी हिंसा का त्याग।
२. इच्छा परिमाण—परिग्रह का सीमाकरण।

यह लोकतंत्र या समाजवाद का प्रधान सूत्र है। वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री आदित्यनाथ ज्ञाने ने इस तथ्य को इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है—“भारतीय जीवन में प्रजा और चारित्र का समन्वय जैन और बौद्धों की विशेष देन है। जैन दर्शन के अनुसार सत्य-मार्ग परम्परा का अध्यानुसरण नहीं है, प्रत्युत तर्क और उपपत्तियों से सम्मत तथा बौद्धिक रूप से संतुलित दृष्टिकोण ही सत्य-मार्ग है। इस दृष्टिकोण की प्राप्ति तब संभव है जब मिथ्या विश्वास पूर्णतः दूर हो जाय। इस बौद्धिक आधार-शिला पर ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह के बल से सम्यक् चारित्र को प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

जैन-धर्म का आचारशास्त्र भी जनतंत्रवादी भावनाओं से अनुप्राणित है। जन्मतः सभी व्यक्ति समान हैं और प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामर्थ्य और रुचि के अनुसार गृहस्थ या मुनि हो सकता है।

अपरिग्रह संबंधी जैन धारणा भी विशेषतः उल्लेखनीय है। आज इस बात पर अधिकाधिक बल देने की आवश्यकता है, जैसा कि प्राचीन काल के जैन विचारकों ने किया था। ‘परिमित परिग्रह’—उनका आदर्श वाक्य था। जैन विचारकों के अनुसार परिमित परिग्रह का सिद्धांत प्रत्येक गृहस्थ के लिए अनिवार्य रूप से आचरणीय था। सम्भवतः भारतीय आकाश में समाजवादी समाज के विचारकों का यह प्रथम उद्घोष था।”

प्रत्येक आत्मा में अनंत शक्ति के विकास की क्षमता, आत्मिक समानता, क्षमा, मैत्री, विचारों का अनाग्रह आदि के बीज जैन-धर्म ने ही बोये थे। महात्मा गांधी का निमित्त पा, आज वे केवल भारत के ही नहीं, विश्व की राजनीति के क्षेत्र में पल्लवित हो रहे हैं।

भगवान् महावीर की जन्मभूमि, तपोभूमि और विहारभूमि विहार था। इसलिए महावीर कालीन जैन-धर्म पहले विहार में पल्लवित हुआ। कालक्रम से वह बंगाल, उड़ीसा, उत्तर भारत, दक्षिण भारत, गुजरात महाराष्ट्र, मध्यप्रांत और राजपूताना में फैला। विक्रम की सहस्राब्दी के पश्चात् शैव, लिगायत, वैष्णव आदि वैदिक सम्प्रदायों के प्रबल विरोध के कारण जैन-धर्म का प्रभाव सीमित हो गया। अनुयायियों की अल्प संख्या होने पर भी जैन-धर्म का सैद्धान्तिक प्रभाव भारतीय चेतना पर व्याप्त रहा।

बीच-बीच में प्रभावशाली जैनाचार्य उसे उद्वुद्ध करते रहे। विक्रम की बारहवीं शताब्दी में गुजरात का वातावरण जैन-धर्म से प्रभावित था।

गूर्जर-नरेश जयसिंह और कुमारपाल ने जैन-धर्म को बहुत ही प्रश्रय दिया और कुमारपाल का जीवन जैन-आचार का प्रतीक बन गया था। सम्राट् अकबर भी हीरविजयसूरि से प्रभावित थे। अमेरिकी दार्शनिक विलड्यूरेन्ट ने लिखा है—“अकबर ने जैनों के कहने पर शिकार छोड़ दिया था और कुछ नियत तिथियों पर पशु-हत्याएं रोक दी थीं। जैन-धर्म के प्रभाव से ही अकबर ने अपने द्वारा प्रचारित दीने-इलाही नामक सम्प्रदाय में मांस-भक्षण के निषेध का नियम रखा था।”

जैन मंत्रो, दण्डनायक और अधिकारियों के जीवन-वृत्त बहुत ही विस्तृत हैं। वे विधर्मी राजाओं के लिए भी विश्वासपात्र रहे हैं। उनकी प्रामाणिकता और कर्त्तव्यनिष्ठा की व्यापक प्रतिष्ठा थी। जैनत्व का अंकन पदार्थों से नहीं, किंतु चारित्रिक मूल्यों से ही हो सकता है।

जैन राजा

भगवान् महावीर के युग में भारत में गणतन्त्र और राजतन्त्र दोनों प्रकार की शासन-प्रणालियां प्रचलित थीं। अनेक राजे महावीर के भक्त थे। अनेक राजे जैन परम्परा में दीक्षित हुए। श्रेणिक, कोणिक, उदायि आदि राजाओं के पश्चात् नंद राजाओं ने जैन धर्म को संरक्षण दिया। नंदों के उत्तराधिकारी राजा जैन धर्म के प्रश्रय दाता रहे हैं। चन्द्रगुप्त मौर्य दृढ़ जैन था। वह आचार्य भद्रबाहु के साथ दक्षिण गया और दक्षिण भारत में कर्नाटक प्रदेश की ‘चन्द्रगिरि’ पहाड़ी पर समाधिपूर्ण मरण प्राप्त किया।

सम्राट् अशोक का पुत्र कुणाल जैन धर्मावलम्बी था। वह उज्जयिनी प्रदेश का राज्यपाल था। कुणाल के पुत्र संप्रति ने जैन धर्म के विस्तार के लिए बहुत प्रयत्न किया।

उड़ीसा में लगभग सात शताब्दियों तक जैन धर्म का प्रभुत्व रहा। इस प्रकार ईसा पूर्व की पहली-दूसरी शताब्दी से ईसा की दसवीं शताब्दी तक अनेक स्थानों पर जैन राजे, जैन मन्त्री, जैन कोटपाल, जैन कोषाध्यक्ष आदि थे। दक्षिण भारत में लगभग हजार

वर्ष तक जैन शासकों का प्रभुत्व रहा ।

महाराज खारवेल

खारवेल का जन्म लगभग ई० पू० १६० में हुआ । पन्द्रह वर्ष की आयु में उन्हें युवराज पद प्राप्त हुआ । २४ वर्ष की आयु में उनका राज्याभिषेक हुआ । उन्होंने लगभग १३ वर्ष तक राज्य किया । आगे का इतिहास विश्वस्त रूप से प्राप्त नहीं होता ।

ये कलिंग [उड़ीसा] के समर्थ शासक थे । इनका वंश 'चेति' था । उसने पराक्रम से अनेक देशों को जीतकर अपने राज्य में मिलाया; राज्य-प्राप्ति के तेरहवें वर्ष में श्रावक व्रत स्वीकार किए । इन्होंने केवल तेरह वर्ष तक राज्य किया, किन्तु कलिंग का प्रभाव सारे भारत पर व्यापक हो गया । शेष जीवन इन्होंने धर्मारामना में बिताया ।

इनका इतिहास-प्रसिद्ध हाथीगुम्फा शिलालेख उड़ीसा प्रदेश के पुरी जिले में स्थित भुवनेश्वर से तीन मील की दूरी पर उदयगिरि पर्वत पर बने हुए हाथीगुम्फा मंदिर के मुख एवं छत पर उत्कीर्ण है । इसकी तिथि ई० पू० १५२ है । इसका प्रारंभ अर्हतों और सिद्धों की वंदना से होता है ।

ई० पू० १५३ में कुमारी पर्वत पर इन्होंने जैन मुनियों का महा सम्मेलन किया और उसमें द्वादशांगी श्रुत के उद्धार के लिए प्रयत्न किया ।

महाराज सम्प्रति

महाराज अशोक का पुत्र कुणाल 'अंधा' हो गया था । उसके पुत्र का नाम था संप्रति । वह उज्जैनी का सामंत था । उसने अपने पराक्रम से दक्षिणापथ, सौराष्ट्र, आंध्र तथा द्राविड़ देशों पर विजय प्राप्त की थी । उसने अपने अधीनस्थ राजाओं को जैन धर्म की विशेषताओं से परिचित कराया और जैन मुनियों के विहार की देखरेख करने का निर्देश दिया । जैन-मुनियों का विहार-क्षेत्र विस्तृत हो गया । संप्रति के प्रयास से ही जैन मुनि आंध्र, द्रविड़, महाराष्ट्र आदि सीमा-स्थित प्रदेशों में जाने-आने लगे । उसने ई० पू० २३२ से १६० तक लगभग ४२ वर्ष तक राज्य किया । आचार्य सुहस्ती उसके धर्मगुरु थे । लगभग ६० वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु हुई । जैन धर्म के उद्धारक के रूप में महाराज संप्रति का नाम प्रसिद्ध है ।

बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए अशोक ने जो काम किया उससे अधिक संप्रति ने जैन धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए किया।

सम्राट् संप्रति को 'परम-आर्हत्' कहा गया है। उन्होंने अनार्य-देशों में श्रमणों का विहार करवाया था। भगवान् महावीर के काल में विहार के लिए जो आर्य-क्षेत्र की सीमा थी, वह संप्रति के काल में बहुत विस्तृत हो गई थी। साढ़े पच्चीस देशों का आर्य-क्षेत्र मानने की बात भी सम्भवतः संप्रति के बाद ही स्थिर हुई होगी।

सम्राट् संप्रति को भारत के तीन खण्डों का अधिपति कहा गया है। जयचंद्र विद्यालंकार ने लिखा है—“संप्रति को उज्जैन में जैन आचार्य सुहस्ती ने अपने धर्म की दीक्षा दी। उसके बाद संप्रति ने जैन-धर्म के लिए वही काम किया जो अशोक ने बौद्ध धर्म के लिए किया था। चाहे चन्द्रगुप्त के और चाहे संप्रति के समय में जैन-धर्म की बुनियाद तामिल भारत के नए राज्यों में भी जा जमी, इसमें संदेह नहीं। उत्तर-पश्चिम के अनार्य देशों में भी संप्रति के समय जैन-प्रचारक भेजे और वहां जैन-साधुओं के लिए अनेक विहार स्थापित किए गए। अशोक और संप्रति दोनों के कार्य से आर्य संस्कृति एक विश्व शक्ति बन गई और आर्यावर्त का प्रभाव भारतवर्ष की सीमाओं के बाहर तक पहुंच गया। अशोक की तरह उसके पुत्र ने भी अनेक इमारतें बनवाईं। राजपूताना की कई जैन-रचनाएं उसके समय की कही जाती हैं।” कुछ विद्वानों का अभिमत है कि जो शिलालेख अशोक के नाम से प्रसिद्ध हैं, वे सम्राट् संप्रति ने लिखवाए थे। सुप्रसिद्ध ज्योतिर्विद श्री सूर्यनारायण व्यास ने एक बहुत खोजपूर्ण लेख द्वारा यह प्रमाणित किया है कि सम्राट् अशोक के नाम के लेख सम्राट् संप्रति के हैं।

सम्राट् अशोक ने शिला-लेख लिखवाए हों और उन्हीं के पौत्र तथा उन्हीं के समान धर्म-प्रचार-प्रेमी सम्राट् संप्रति ने शिला लेख न लिखवाए हों, यह कल्पना नहीं की जा सकती। एक बार फिर सूक्ष्म-दृष्टि से अध्ययन करने की आवश्यकता है कि अशोक के नाम से प्रसिद्ध शिला-लेखों में कितने अशोक के हैं और कितने संप्रति के ?

जैन-धर्म : भारत के विविध अञ्चलों में

बिहार

भगवान् महावीर के समय में उनका धर्म प्रजा के अतिरिक्त अनेक राजाओं द्वारा स्वी कृत था। वज्जियों के शक्तिशाली गणतन्त्र के प्रमुख राजा चेटक भगवान् महावीर के श्रावक थे। वे पहले से ही जैन थे। वे भगवान् पार्श्व की परम्परा को मान्य करते थे। वज्जी गणतन्त्र की राजधानी 'वैशाली' थी। वहाँ जैन-धर्म बहुत प्रभावशाली था।

मगध सम्राट् श्रेणिक प्रारम्भ में बुद्ध का अनुयायी था। अनाथी मुनि के सम्पर्क में आने के पश्चात् वह निर्ग्रन्थ धर्म का अनुयायी हो गया था। इसका विशद् वर्णन उत्तराध्ययन के बीसवें अध्ययन में है। श्रेणिक की रानी चेल्लणा चेटक की पुत्री थी। यह श्रेणिक को निर्ग्रन्थ धर्म का अनुयायी बनाने का सतत प्रयत्न करती थी और अंत में उसका प्रयत्न सफल हो गया। मगध में भी जैन-धर्म प्रभावशाली था। श्रेणिक का पुत्र कूणिक भी जैन था। जैन-आगमों में महावीर और कूणिक के अनेक प्रसंग हैं।

मगध-शासक शिशुनाग-वंश के बाद नंद-वंश का राज्य बंबई के मुद्गर दक्षिण गोदावरी तक फैला हुआ था। उस समय मगध और कलिंग में जैन-धर्म का प्रभुत्व था ही, परंतु अन्यान्य प्रदेशों में भी उसका प्रभुत्व बढ़ रहा था।

नंद-वंश की समाप्ति हुई और मगध की साम्राज्यश्री मौर्य-वंश के हाथ में आई। उसका पहला सम्राट् चन्द्रगुप्त था। उसने उत्तर-भारत में जैन-धर्म का बहुत विस्तार किया। पूर्व और पश्चिम भी उससे काफी प्रभावित हुए। सम्राट् चन्द्रगुप्त अपने अंतिम जीवन में मुनि बने और श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ दक्षिण में गए थे। चन्द्रगुप्त के पुत्र बिंदुसार और उनके पुत्र अशोकश्री [सम्राट् अशोक] हुए। ऐसा माना जाता है कि वे प्रारंभ में जैन थे, अपने परम्परागत-धर्म के अनुयायी थे और बाद में बौद्ध हो गए।

अशोक के उत्तराधिकारी उनके पौत्र सम्प्रति थे। कुछ इतिहासज्ञ उनका उत्तराधिकारी उनके पुत्र कुणाल [सम्प्रति के पिता] को ही मानते हैं।

किंतु कुछ जैन लेखकों के अनुसार कुणाल अंधा हो गया था,

इसलिए उसने अपने पुत्र सम्प्रति के लिए ही सम्राट् अशोक से राज्य मांगा था ।

बंगाल

राजनीतिक दृष्टि से प्राचीन-काल में बंगाल का भाग्य मगध के साथ जुड़ा हुआ था । नंदों और मौर्यों ने गंगा की उस निचली घाटी पर अपना स्वत्व बनाए रखा । कुषाणों के समय में बंगाल उनके शासन से बाहर रहा, परंतु गुप्तों ने उस पर अपना अधिकार फिर स्थापित किया । गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात् बंगाल में छोटे-छोटे अनेक राज्य उठ खड़े हुए ।

भगवान् महावीर वज्रभूमि [वीर भूमि] में गए थे । उस समय वह अनार्य-प्रदेश कहलाता था । उससे पूर्व बंगाल में भगवान् पार्श्व का ही धर्म प्रचलित था । वहां बौद्ध-धर्म का प्रचार जैन-धर्म के बाद में हुआ । वैदिक धर्म का प्रवेश तो वहां बहुत बाद में हुआ था । ई० स० ६८६ में राजा आदिसूर ने नैतिक धर्म के प्रचार के लिए पांच ब्राह्मण निमंत्रित किए थे ।

भगवान् महावीर के सातवें पट्टधर श्री श्रुतकेवली भद्रबाहु पौण्ड्रवर्धन [उत्तरी बंगाल] के प्रमुख नगर कोट्टपुर के सोमशर्मा पुरोहित के पुत्र थे ।

उनके शिष्य स्थविर गोदास से गोदास-गण का प्रवर्तन हुआ । उसकी चार शाखाएं थीं—तामलित्तिया, कोडिवरिसिया, पुण्डवद्विगिया [पोंडवद्विगिया], दासीखब्बडिया ।

तामलित्तिया का सम्बंध बंगाल की मुख्य राजधानी ताम्रलिप्ती से है । कोडिवरिसिया का संबंध राठ की राजधानी कोटिवर्ष से है । पोंडवद्विगिया का संबंध पौंड्र-उत्तरी बंगाल से है । दासीखब्बडिया का संबंध खरवट से है । इन चारों बंगाली शाखाओं से बंगाल में जैन-धर्म के सार्वजनिक प्रसार की सम्यक् जानकारी मिलती है ।

उड़ीसा

ई० पू० दूसरी शताब्दी में उड़ीसा में जैन-धर्म बहुत प्रभावशाली था । सम्राट् खारवेल का उदयगिरि पर्वत पर हाथीगुंफा का शिलालेख इसका स्वयं प्रमाण है । लेख का प्रारंभ—'नमो अरहं-तानं, नमो सव-सिधानं'—इस वाक्य से होता है ।

उत्तर-प्रदेश

भगवान् पार्श्व वाराणसी के थे। काशी और कौशल—ये दोनों राज्य उनके धर्मोपदेश से बहुत प्रभावित थे। वाराणसी का अलक्ष्य राजा भी भगवान् महावीर के पास प्रव्रजित हुआ था। उत्तराध्ययन में प्रव्रजित होने वाले राजाओं की सूची में काशीराज के प्रव्रजित होने का उल्लेख है।

राजस्थान

भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् मरुस्थल [वर्तमान राजस्थान] में जैन-धर्म का प्रभाव बढ़ गया था।

आचार्य रत्नप्रभसूरि वीर-निर्वाण की पहली शताब्दी में उप-केश या ओसियां में आए थे। उन्होंने वहां ओसियां के सवालाख नागरिकों को जैन-धर्म में दीक्षित किया और उन्हें एक जैन-जाति [ओसवाल] के रूप में परिवर्तित कर दिया। यह घटना वीरनिर्वाण के ७० वर्ष बाद के आसपास की है।

पंजाब और सिन्धु-सौवीर

भगवान् महावीर ने साधुओं के विहार के लिए चारों दिशाओं की सीमा निर्धारित की, उसमें पश्चिमी सीमा 'स्थूणा' [कुरुक्षेत्र] है। इससे जान पड़ता है कि पंजाब का स्थूणा तक का भाग जैन-धर्म से प्रभावित था। साढ़े पच्चीस आर्य-देशों की सूची में भी कुरु का नाम है।

सिन्धु-सौवीर दीर्घकाल से श्रमण-संस्कृति से प्रभावित था। भगवान् महावीर महाराज उद्रायण को दीक्षित करने वहां पधारे ही थे।

मध्य-प्रदेश

बुन्देलखण्ड में ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी के लगभग जैन-धर्म बहुत प्रभावशाली था। आज भी वहां उसके अनेक चिह्न मिलते हैं।

राष्ट्रकूट-नरेश जैन-धर्म के अनुयायी थे। उनका कलचुरि-नरेशों से गहरा संबंध था। कलचुरि की राजधानी त्रिपुरा और रत्नपुर में आज भी अनेक प्राचीन जैन-मूर्तियां और खण्डहर प्राप्त हैं।

चन्देल राज्य के प्रधान खुजराहो नगर में लेख तथा प्रतिमाओं

के अध्ययन से जैन-मत के प्रचार का ज्ञान होता है। प्रतिमाओं की आधार-शिला पर खुदा लेख यह प्रमाणित करता है कि राजाओं के अतिरिक्त साधारण जनता भी जैन-मत में विश्वास रखती थी। मालवा अनेक शताब्दियों तक जैन-धर्म का प्रमुख प्रचार-क्षेत्र था। व्यवहार भाष्य में बताया है कि अन्य तीर्थिकों के साथ वाद-विवाद मालव आदि क्षेत्रों में करना चाहिए। इससे जाना जाता है कि भवन्तीपति चण्डप्रद्योत तथा विशेषतः सम्राट् सम्प्रति से लेकर भाष्य रचनाकाल तक वहां जैन-धर्म प्रभावशाली था।

सौराष्ट्र-गुजरात

सौराष्ट्र जैन-धर्म का प्रमुख केन्द्र था। भगवान् अरिष्टनेमि से वहां जैन-परम्परा चल रही थी। सम्राट् सम्प्रति के राज्यकाल में वहां जैन-धर्म को अधिक बल मिला था। सूत्रकृतांग चूर्ण में सौराष्ट्र-वासी श्रावक का उल्लेख मगधवासी श्रावक की तुलना में किया गया है। जैन-साहित्य में 'सौराष्ट्र' का प्राचीन नाम 'सुराष्ट्र' मिलता है।

वल्लभी में श्वेताम्बर-जैनों की दो-आगम-वाचनाएं हुई थीं। ईसा की चौथी शताब्दी में जब आचार्य स्कन्दिल के नेतृत्व में मथुरा में आगम-वाचना हो रही थी, उसी समय आचार्य नागार्जुन के नेतृत्व में वह वल्लभी में हो रही थी।

ईसा की पांचवी शताब्दी [४५४] में फिर वहीं आगम-वाचना के लिए एक परिषद् आयोजित हुई। उसका नेतृत्व देव-द्विगण क्षमाश्रमण ने किया। उन्होंने आचार्य स्कन्दिल की 'माथुरी-वाचना' को मुख्यता दी और नागार्जुन की 'वल्लभी-वाचना' को वाचनान्तर के रूप में स्वीकृत किया।

गुजरात के चालुक्य, राष्ट्रकूट, चावड, सोलंकी आदि राजवंशी भी जैन-धर्म के अनुयायी या समर्थक थे।

बम्बई-महाराष्ट्र

सम्राट् सम्प्रति से पूर्व जैनों की दृष्टि में महाराष्ट्र अनार्य-देश की गणना में था। उसके राजकाल में जैन साधु वहां विहार करने लगे। उत्तरवर्ती-काल में वह जैनों का प्रमुख विहार-क्षेत्र बन गया था। जैन-आगमों की भाषा महाराष्ट्री-प्राकृत से बहुत प्रभावित है। कुछ विद्वानों ने प्राकृत-भाषा के रूप का 'जैन महाराष्ट्री

प्राकृत' ऐसा नाम रखा है ।

ईसा की आठवीं-नौवीं शताब्दी में विदर्भ पर चालुक्य राजाओं का शासन था । दसवीं शताब्दी में वहाँ राष्ट्रकूट राजाओं का शासन था । ये दोनों राजवंश जैन-धर्म के पोषक थे । उनके शासन-काल में वहाँ जैन-धर्म खूब फला-फूला ।

नर्मदा-तट

नर्मदा-तट पर जैन-धर्म के अस्तित्व के उल्लेख पुराणों में मिलते हैं । वैदिक आर्यों से पराजित होकर जैन-धर्म के उपासक असुर लोग नर्मदा के तट पर रहने लगे । कुछ काल बाद वे उत्तर भारत में फैल गए थे । हैहय-वंश की उत्पत्ति नर्मदा-तट पर स्थित माहिष्मती के राजा कार्तवीर्य से मानी जाती है । भगवान् महावीर का श्रमणोपासक चेटक हैहय-वंश का ही था ।

दक्षिण भारत

दक्षिण भारत में जैन-धर्म का प्रभाव भगवान् पार्श्व और महावीर से पहले ही था । जिस समय द्वारका का दहन हुआ था, उस समय भगवान् अरिष्टनेमि पल्हव देश में थे । वह दक्षिणापथ का ही एक राज्य था । उत्तर-भारत में जब दुर्भिक्ष हुआ, तब भद्रबाहु दक्षिण में गए । यह कोई आकस्मिक संयोग नहीं, किन्तु दक्षिण भारत में जैन-धर्म के सम्पर्क का सूचन है ।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि ईसा की पहली शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक दक्षिण भारत में जैन-धर्म सबसे अधिक शक्तिशाली और आकर्षक धर्म था । पांड्य, गंग, राष्ट्रकूट, कलचूरी और होयसल वंश के अनेक राजा जैन थे । पश्चिमी चालुक्य वंश के शासक जैन-धर्म के संरक्षक के रूप में विख्यात थे । राष्ट्रकूट वंश के राजा भी जैन-धर्म को पल्लवित करने तथा उसको संरक्षण देने में अग्रणी रहे हैं ।

तमिल देश के चोलवंशीय शासक यद्यपि जैन नहीं थे, फिर भी उन्होंने जैन-धर्म को पर्याप्त सहयोग देकर उसका संरक्षण किया ।

कलचूर वंश के संस्थापक त्रिभुवनमल्ल विज्जल [११५६-११६७] के सभी दान-पत्रों में जैन-तीर्थंकर का चित्र अंकित मिलता है । वह स्वयं जैन था ।

मैसूर के होयसल वंश के राजा जैन थे। विजयनगर के राजाओं की जैन-धर्म के प्रति सहिष्णुता रही है। उन्होंने अनेक स्थानों पर जैन मन्दिर बनवाए, मूर्तियां स्थापित कीं और जैन मुनियों को संरक्षण दिया।

उत्तर भारत में भी जैन धर्म का प्रभुत्व बना रहा। कभी वह कम हो जाता और कभी बढ़ जाता। कुषाण सम्राटों के शासनकाल [ई० ७५-२५०] तक, विशेषकर मथुरा जनपद में जैन-धर्म उन्नत और प्रभावशाली रहा। तीसरी शताब्दी के लगभग जब कुषाणों की पराजय हुई तब जैन-धर्म का प्रभाव भी हट गया, किन्तु आगन्तुक भद्रक, अर्जुनायन आदि युद्धोपजीवी गणराज्य जैनों के प्रति सहिष्णु बने रहे। जैन मुनियों के विहरण में कोई बाधा नहीं आई।

गुप्तकाल का प्रारम्भ लगभग ई० ३२० माना जाता है। गुप्त नरेश यद्यपि जैन नहीं थे, फिर भी वे जैन-धर्म के प्रति-सहिष्णु थे। उनका वर्चस्व छठी शताब्दी के मध्य तक रहा।

कन्नौज का प्रतापी सम्राट् हर्षवर्धन [ई० ६०६-६४७] का विशेष झुकाव जैन-धर्म की ओर नहीं था, फिर भी वह जैन विद्वानों का समर्थक और प्रतिष्ठापक था।

मध्ययुग [१२ वीं शती के अन्त से १८ वीं के अंत तक] में मुसलमानों के आक्रमण के कारण सभी धर्म-परम्पराओं को प्रहार सहने पड़े। जैन धर्म भी उससे अछूता नहीं रहा। फिर भी उत्तर भारत और दक्षिण भारत के अनेक अंचलों में जैन-धर्म के शासक, जैन-धर्म के संरक्षक या जैन-धर्म के पोषक राजा राज्य करते रहे और यह धर्म जनमानस को अहिंसा, सत्य आदि शाश्वत तत्त्वों की ओर आकृष्ट करता रहा।

विदेशों में जैन-धर्म

जैन-साहित्य के अनुसार भगवान् ऋषभ, पार्श्व और महावीर ने अनार्य देशों में विहार किया था। सूत्रकृतांग के एक श्लोक से अनार्य का अर्थ 'भाषा-भेद' भी फलित होता है। इस अर्थ की छाया में हम कह सकते हैं कि चार तीर्थकरों ने उन देशों में भी विहार किया, जिनकी भाषा उनके मुख्य विहार-क्षेत्र की भाषा से भिन्न थी।

भगवान् ऋषभ ने बहली [बैक्ट्या, बलख], अंडबइल्ला

[अटक प्रदेश], यवन [यूनान], सुवर्णभूमि [सुमात्रा] पण्हव आदि देशों में विहार किया। पण्हव का सम्बन्ध प्राचीन पार्थिया [वर्तमान ईरान का एक भाग] से है या पल्हव से, यह निश्चित नहीं कहा जा सकता। भगवान् अरिष्टनेमि दक्षिणापथ के मलय देश में गए थे। जब द्वारका-दहन हुआ था तब अरिष्टनेमि पल्हव नामक अनार्य देश में थे।

भगवान् पार्श्वनाथ ने कुरु, कौशल, काशी, सुम्ह, अवन्ती, पुण्ड्र, मालव, अंग, बंग, कर्लिंग, पांचाल, मगध, विदर्भ, भद्र, दशार्ण, सौराष्ट्र, कर्णाटक, कोंकण, मेवाड़, लाट, द्राविड़, काश्मीर कच्छ, शाक, पल्लव, वत्स, आभीर आदि देशों में विहार किया था। दक्षिण में कर्णाटक, कोंकण, पल्लव, द्राविड़ आदि उस समय अनार्य माने जाते थे। शाक भी अनार्य प्रदेश है। इसकी पहिचान शाक्यदेश या शाक्य-द्वीप से हो सकती है। शाक्य भूमि नेपाल की उपत्यका में है। वहां भगवान् पार्श्व के अनुयायी थे। भगवान् बुद्ध का चाचा स्वयं भगवान् पार्श्व का श्रावक था। शाक्य-प्रदेश में भगवान् का विहार हुआ हो, यह बहुत सम्भव है। भारत और शाक्य-प्रदेश का बहुत प्राचीन-काल से संबन्ध रहा है।

भगवान् महावीर वज्रभूमि, सुम्हभूमि, दृढभूमि आदि अनेक अनार्य-प्रदेशों में गए थे। वे बंगाल की पूर्वीय सीमा तक भी गए थे।

उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत एवं अफगानिस्तान में विपुल संख्या में जैन श्रमण विहार करते थे।

जैन श्रावक समुद्र पार जाते थे। उनकी समुद्र-यात्रा और विदेश-व्यापार के अनेक प्रमाण मिलते हैं। लंका में जैन श्रावक थे, इसका उल्लेख बौद्ध साहित्य में भी मिलता है। महावंश के अनुसार ई० पू० ४३० में जब अनुराधापुर बसा, तब जैन श्रावक वहां विद्यमान थे। वहां अनुराधापुर के राजा पाण्डुकाभय ने ज्योतिष निग्गंठ के लिए घर बनवाया। उसी स्थान पर गिरि नामक निग्गंठ रहते थे। राजा पाण्डुकाभय ने कुम्भण्ड निग्गंठ के लिए एक देवालय बनवाया था।

जैन श्रमण भी सुदूर देशों तक विहार करते थे। ई० पू० २५ में पाण्ड्य राजा ने अगस्टस् सीजर के दरबार में दूत भेजे थे। उनके साथ श्रमण भी यूनान गए थे।

ईसा से पूर्व ईराक, शाम और फिलिस्तीन में जैन-मुनि और बौद्ध-भिक्षु सैंकड़ों की संख्या में चारों ओर फैले हुए थे। पश्चिमी एशिया, मिश्र, यूनान और इथ्योपिया के पहाड़ों और जंगलों में उन दिनों अगणित भारतीय-साधु रहते थे, जो अपने त्याग और अपनी विद्या के लिए प्रसिद्ध थे। ये साधु वस्त्रों तक का परित्याग किए हुए थे।

यूनानी लेखक मिस्र, एबीसीनिया, इथ्योपिया में दिगम्बर मुनियों का अस्तित्व बताते हैं।

आर्द्र देश का राजकुमार आर्द्र भगवान् महावीर के संघ में प्रव्रजित हुआ था। अरबिस्तान के दक्षिण में 'एडन' बंदर वाले प्रदेश को 'आर्द्र-देश' कहा जाता था। कुछ विद्वान् इटली के एडियाटिक समुद्र के किनारे वाले प्रदेश को आर्द्र-देश मानते हैं।

बेबीलोनिया में जैन-धर्म का प्रचार बौद्ध-धर्म का प्रसार होने से पहले ही हो चुका था इसकी सूचना बावेरु-जातक से मिलती है।

इब्न-अन नजीम के अनुसार अरबों के शासन-काल में यहिया इब्न खालिद बरमकी ने खलीफा के दरबार और भारत के साथ अत्यन्त गहरा संबन्ध स्थापित किया। उसने बड़े अध्यवसाय और आदर के साथ भारत के हिन्दू, बौद्ध और जैन-विद्वानों को निमंत्रित किया।

इस प्रकार मध्य एशिया में जैन-धर्म या श्रमण-संस्कृति का काफी प्रभाव रहा था। उससे वहाँ के धर्म प्रभावित हुए थे। वान-क्रेमर के अनुसार मध्य-पूर्व में प्रचलित 'समानिया' सम्प्रदाय 'श्रमण' शब्द का अपभ्रंश है।

श्री विश्वम्भरनाथ पाण्डे ने लिखा है—“इन साधुओं के त्याग का प्रभाव यहूदी धर्मावलम्बियों पर विशेष रूप से पड़ा। इन आदर्शों का पालन करने वालों की, यहूदियों में एक खास जमात बन गई, जो 'ऐस्मिनी' कहलाती थी। इन लोगों ने यहूदी-धर्म के कर्मकाण्डों का पालन त्याग दिया। ये बस्ती से दूर जंगलों में या पहाड़ों पर कुटी बनाकर रहते थे। जैन-मुनियों की तरह अहिंसा को अपना खास धर्म मानते थे। मांस खाने से उन्हें बेहद परहेज था। वे कठोर और संयमी जीवन व्यतीत करते थे। पैसा या धन को छूने तक से इन्कार करते थे। रोगियों और दुर्बलों की सहायता को दिनचर्या का

आवश्यक अंग मानते थे। प्रेम और सेवा को पूजा-पाठ से बढ़कर मानते थे। पशु-बलि का तीव्र विरोध करते थे। शारीरिक परिश्रम से ही जीवन-यापन करते थे। अपरिग्रह के सिद्धांत पर विश्वास करते थे। समस्त संपत्ति को समाज की संपत्ति समझते थे। मिस्र में इन्हीं तपस्वियों को 'थेरापूते' कहा जाता था। 'थेरापूते' का अर्थ 'मौनी-अपरिग्रही' है।”

कालकाचार्य सुवर्णभूमि [सुमात्रा] में गए थे। उनके प्रशिष्य श्रमण सागर अपने गण सहित वहां पहले ही विद्यमान थे।

कौचद्वीप, सिंहलद्वीप [लंका] और हंसद्वीप में भगवान् सुमतिनाथ की पादुकाएं थीं। पारकर देश और कासहृद में भगवान् ऋषभदेव की प्रतिमा थी।

ऊपर के संक्षिप्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि जैन-धर्म का प्रसार हिन्दुस्तान के बाहर देशों में भी हुआ था। उत्तरवर्ती श्रमणों की उपेक्षा व अन्यान्य परिस्थितियों के कारण वह वहां स्थायी नहीं रह सका।

जैनों के कुछ विशिष्ट स्थल

१. आबू

दक्षिणी राजस्थान के सिरोंही जिले के अन्तर्गत आबू की रमणीय पहाड़ियां हैं। इसका प्राचीन नाम अर्बुद है।

आबू जैन मन्दिरों के लिए प्रख्यात है। उनमें दो प्रमुख हैं। भगवान् ऋषभ का मन्दिर सोलंकी नरेश के मन्त्री विमलशाह ने ईसवी सन् १०३२ में बनवाया। भगवान् नेमि के मन्दिर के निर्माता हैं वस्तुपाल और तेजपाल। ये दोनों सगे भाई थे। इनके पास अपार सम्पत्ति थी। इन्होंने पत्थर को उत्कीर्ण करने वाले कारीगरों को, पत्थर से निकलने वाले टुकड़ों के बराबर चांदी देकर उनका उत्साह बढ़ाया। कारीगर पत्थर में जीवन उंडेलने में तत्पर हुए और आज भी यह मन्दिर अपनी उत्कीर्ण-कला का उत्कृष्ट नमूना है। माना जाता है कि इसमें करोड़ों रुपये खर्च हुए। इसका निर्माण सन् १२३२ में हुआ।

२. सम्मेद शिखर

यह बिहार के हजारीबाग जिले का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

इसकी पहचान वर्तमान पारसनाथ हिल से की जाती है। यह पहाड़ी ईसरी स्टेशन से दो मील दूर है। यहां बीस तीर्थंकर संलेखनापूर्वक समाधि-मरण कर निर्वाण को प्राप्त हुए थे। इसे समाधिगिरि, समिदगिरि भी कहा जाता है।

३. शत्रुंजय

सौराष्ट्र में पालीताना स्टेशन से दो मील दूरी पर एक पर्वत-शृंखला है। वह शत्रुंजय के नाम से प्रसिद्ध है। इस पहाड़ी पर भगवान् ऋषभ का भव्य मन्दिर है। जैन तीर्थों में यह आदि तीर्थ माना जाता है। इसका दूसरा नाम पुण्डरीक है। प्रतिवर्ष अक्षय तृतीया के दिन यहां 'बरसी तप' का पारणा करने के लिए हजारों तपस्वी उपासक-उपासिकाएं और अन्य हजारों यात्री आते हैं।

पहाड़ पर चढ़ने के लिए भव्य सोपान-मार्ग है। नगर बड़ी-बड़ी धर्मशालाओं से भरा पड़ा है। यहां सैकड़ों जैन साधु-साध्वियां हैं। महाराज कुमारपाल ने लाखों रुपये खर्च कर यहां के मन्दिरों का जीर्णोद्धार करवाया था। यहां से अनेक मुनि निर्वाण को प्राप्त हुए हैं। थावच्चापुत्त का यहीं निर्वाण हुआ था।

४. श्रवणबेलगोला

जैनों का यह प्रसिद्ध तीर्थ कर्णाटक प्रान्त के हासन जिले में है। यह चन्द्रगिरि और विध्यगिरि, इन दो पर्वतों की तलहटी में एक सरोवर पर स्थित है। यह मैसूर नगर से ६२ मील की दूरी पर है। इसे गोम्मट तीर्थ कहा जाता है। यहां गोमटेश्वर बाहुबली की ५७ फुट [पांच सौ धनुष्य] ऊंची मूर्ति है। इसकी स्थापना राजमल्ल नरेश के प्रधानमंत्री तथा सेनापति चामुण्डराय ने कराई थी। विद्वानों ने स्थापना की तिथि २३ मार्ग सन् १०२८ निश्चित की है। यह नयनाभिराभ मूर्ति एक ही पत्थर में उत्कीर्ण है। यह विश्व का आठवां आश्चर्य माना जा सकता है। बारह वर्षों में एक बार इसका मस्तकाभिषेक होता है।

चामुण्डराय का घरेलू नाम 'गोम्मट' था। सम्भव है इसलिए उनके द्वारा निर्मित और स्थापित मूर्ति को भी 'गोम्मटेश्वर' कहा गया। सिद्धांत चक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र ने चामुण्डराय का उल्लेख 'गोम्मटाराय' के नाम से किया है और पंचसंग्रह ग्रन्थ का नाम 'गोम्मटसार' रखा। श्रवणबेलगोल में लगभग ५०० शिलालेख हैं।

श्रवणबेलगोल तीन शब्दों से बना है। श्रवण का अर्थ है—जैन मुनि, बेल का अर्थ है—श्वेत और गोल का अर्थ है—सरोवर। श्रवणबेल-गोल अर्थात् जैन मुनियों का धवल सरोवर।

५. राणकपुर

अरावली पर्वत-शृंखलाओं के मध्य राणकपुर [रणकपुर] नाम का गांव है। यह राजस्थान के पाली जिले के अन्तर्गत है। यह फालना स्टेशन से लगभग २२ किलोमीटर की दूरी पर स्थित है।

माना जाता है कि नंदीपुर गांव में जिनेश्वर उपासक धरणाशाह को एक रात्रि में स्वप्न आया। उसमें उन्होंने 'निलीनी गुल्म' विमान देखा। उस विमान की आकृति से प्रभावित होकर उन्होंने उसी आकृति का जिनालय बनाने की प्रतिज्ञा ली। दूर-दूर से शिल्पी आमंत्रित किए गए। प्रारम्भिक रेखाचित्र बने। इनमें से मुंडारा गांव के देपाक नामक शिल्पी का रेखाचित्र पसन्द किया गया और उसी के अनुसार विक्रम संवत् १४६५ में जिनालय की नींव डाली और १४६८ में वह मन्दिर तैयार हो गया। इसमें लगभग एक करोड़ रुपया व्यय हुआ। यह मन्दिर अपनी शानी का बेजोड़ मंदिर है। इसमें २४ रंगमंडप, १८४ भूगृह, ८५ शिखर और १४४४ स्तंभ हैं। आदिनाथ की मूर्ति की स्थापना इस प्रकार की गई है कि व्यक्ति मंदिर में किसी भी स्थान पर, किसी भी कोण में खड़ा रहे, उसे प्रतिमा के दर्शन होते हैं। इसका प्रस्तर-शिल्प बहुत ही अनोखा और हृदयग्राही है।

इस मंदिर के निर्माता धरणाशाह के सम्बन्ध में एक किंवदन्ती प्रचलित है कि एक दिन धरणाशाह मंदिर का निर्माण देखने गए। एक दीपक जल रहा था। उसके तैल में एक मक्खी गिर गई। धरणाशाह ने तैल से सनी मक्खी को निकाल कर अपनी जूती पर रख ली, जिससे कि मक्खी के शरीर पर लगा तैल जूती पर लग जाए, व्यर्थ न चला जाए। शिल्पियों ने यह देखा। वे आश्चर्यचकित रह गए। उनका मन संदेह से भर गया कि ऐसा कंजूस व्यक्ति इतना बड़ा जिनालय कैसे बनवा सकेगा? परीक्षा करने के लिए उन्होंने एक दिन धरणाशाह से कहा—नीवों में सर्वधातुओं का प्रयोग करना होगा क्योंकि इतना विशाल जिन-भवन पत्थर की नींव पर टिक

नहीं पायेगा। शिल्पियों की बात सुनकर धरणाशाह ने विपुल मात्रा में 'सर्वधातु' एकत्रित कर उन्हें विस्मित कर दिया। धरणाशाह यह मानता था कि व्यर्थ एक पैसे का भी खर्च न हो और आवश्यक खर्च में तनिक भी कमी न हो।

६. राजगृह (राजगिरी)

बिहारशरीफ से दक्षिण की ओर १३-१४ मील की दूरी पर स्थित राजगृह प्राचीन राजगिरि है। इसे गिरिव्रज भी कहा जाता है, क्योंकि यह पांच पहाड़ियों से घिरा हुआ है। इन पांच पहाड़ियों के नाम ये हैं - विपुल, रत्न, उदय, स्वर्ण और वैभार। इनमें विपुल और वैभार पर्वत का बहुत महत्त्व है। अनेक मुनियों ने विपुलाचल पर तपस्या कर मोक्ष प्राप्त किया था। आज भी वहां अनेक गुफाएं हैं। यह पांच पहाड़ियों में सबसे ऊंची पहाड़ी है।

वैभार पर्वत के नीचे गरम पानी का एक कुंड है। इसका वर्णन जैन आगम भगवती में भी आया है। आज भी वहां गरम पानी का स्रोत विद्यमान है। वह चर्मरोग निवारण का उपाय बताया जाता है। हजारों लोग वहां नहाते हैं।

भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध ने राजगृह में अनेक चतुर्मास बिताए थे। महावीर प्रायः वहां के गुणशील चैत्य में ठहरते थे। वर्तमान में नबादा स्टेशन से लगभग तीन मील की दूरी पर स्थित 'गुणावा' को प्राचीन गुणशील माना जाता है।

७. ऋषभदेवजी

राजस्थान के दक्षिणी अंचल में धुलेव नाम का कस्बा है। यह उदयपुर से ६४ किलोमीटर दूर उपत्यकाओं से घिरा हुआ है। यहां 'कोयल' नाम की नदी बहती है। यहीं ऋषभदेव का विशाल मन्दिर है। यह एक किलोमीटर के घेरे में स्थित पक्के पाषाण का मन्दिर है। माना जाता है कि पहले यहां ईंटों का बना हुआ मन्दिर था। वह टूट गया। फिर १४ वीं १५ वीं शताब्दी में यह पाषाणमय मन्दिर बना। इस मन्दिर के गर्भगृह में भगवान् ऋषभदेव की पद्मासन में स्थित श्यामवर्णीय भव्य प्रतिमा है। इसकी ऊंचाई साढ़े तीन फुट की है। इस मूर्ति पर केसर अधिक चढ़ाई जाती है इसलिए इसे 'केसरियाजी' या 'केसरियानाथजी' भी कहते हैं। यह प्रतिमा बहुत ही चामत्कारिक है। इसलिए जैन, अजैन, भील तथा अन्य जाति के

लोग यहां हजारों की संख्या में आते हैं और मनौती मनाते हैं। भील लोग इस मूर्ति को 'कालाजी' कहकर पुकारते हैं और उनके मन में इसके प्रति इतनी श्रद्धा और विश्वास है कि 'कालाजी की आण' को वे सर्वोपरि मानते हैं।

जैन परम्परा के कुछ विशिष्ट आचार्य

श्वेताम्बर परम्परा

१. आचार्य शय्यम्भव [वीर नि० पहली शताब्दी]

राजगृह के वात्सगोत्रीय ब्राह्मण परिवार में इनका जन्म हुआ। ये धुरंधर विद्वान् थे। ये वेदों के वेत्ता और वेदांग की अन्यान्य शाखाओं के ज्ञाता थे।

आचार्य प्रभव महावीर की शासन परंपरा के चतुर्थ पट्टधर थे। वे शासन का भार किसी योग्य व्यक्ति को संभलाकर अंतिम अवस्था में ध्यान-स्वाध्याय में लीन होना चाहते थे। उन्होंने समस्त साधु-साध्वी-संघ की ओर ध्यान दिया। एक भी भारवहन करने योग्य नहीं मिला। तब उन्होंने अपने श्रावकों की ओर अवधान किया। वहां भी निराशा ही मिली। तब उनका ध्यान यज्ञकर्त्ता शय्यंभव पर टिका और उन्हें लगा कि यह व्यक्ति शासन के भार को वहन करने योग्य है। उन्होंने युक्ति से समझाकर शय्यंभव को जैन शासन में दीक्षित किया। शय्यंभव ने जैन तत्त्ववाद का गहरा अध्ययन किया। वे आचार्य प्रभव के उत्तराधिकारी बन गए।

शय्यंभव जब दीक्षित हुए थे तब उनकी पत्नी गर्भवती थी। उसने एक पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम मनक रखा गया। जब वह बड़ा हुआ तब पिता की खोज में चंपानगरी आया। गांव के बाहर दोनों मिले। पुत्र ने दीक्षित होने की इच्छा व्यक्त की। शय्यंभव ने उसे दीक्षित कर दिया। शय्यंभव हस्तरेखा के विज्ञाता थे। उन्होंने देखा कि मनक का आयुष्य केवल छह महीनों का है। इस अवधि में उसे मुनिचर्या से अवगत कराने के लिए उन्होंने 'दशवैकालिक' सूत्र का निर्यूहण किया - पूर्वी के विभिन्न अंशों से उसका संकलन किया। मुनि मनक उसमें निष्णात हुआ। छह महीने बीते। मुनि मनक का स्वर्गवास हो गया। आचार्य शय्यंभव का मन मोह से भर गया। उनकी आंखें छलक आईं। अन्य मुनियों ने इसका

कारण पूछा। आचार्य शय्यंभव ने सारी बात बताते हुए कहा—
‘मुनि मनक मेरा संसारपक्षीय पुत्र था। यदि मैं यह तथ्य पहले ही बता देता तो उसकी आराधना में कमी रह जाती। आचार्य-पुत्र मानकर सब उसकी सेवा-मुश्रूषा करते और तब उसकी निर्जरा में कमी आ जाती।’

आचार्य शय्यंभव श्रुतकेवली थे। वे अठाईस वर्ष की अवस्था में दीक्षित हुए और उनचालीसवें वर्ष में आचार्य बने। बासठ वर्ष की अवस्था में [वीर निर्वाण ६८ में] उनका स्वर्गवास हो गया।

२. आचार्य भद्रबाहु (प्रथम)

इनका जन्म वीर-निर्वाण ६४ में हुआ। पैंतालीस वर्ष की अवस्था में ये दीक्षित हुए और आचार्य संभूतिविजय के पश्चात् बासठ वर्ष की अवस्था में ये आचार्य बने। ये आचार्य यशोभद्र के शिष्य थे। इन्हें अन्तिम श्रुतकेवली [चतुर्दश पूर्वी] माना जाता है।

ये मौर्य सम्राट् चंद्रगुप्त के समकालीन थे। एक बार ये नेपाल की पहाड़ियों में महाप्राण ध्यान की साधना करने के लिए चले गए। यह ध्यान बहुत विशिष्ट होता है। इसका कालमान बारह वर्ष का माना जाता है। आचार्य भद्रबाहु ध्यान में लीन थे। उस समय भयंकर दुष्काल पड़ा। अनेक श्रुतधर आचार्य और मुनि काल-कवलित हो गए। चौदह पूर्वी का ज्ञाता कोई नहीं बचा। तब पाटलिपुत्र [पटना] में संघ एकत्रित हुआ और आगम-निधि को सुरक्षित रखने का उपाय सोचा। संघ के निर्णय के अनुसार उस समय के अति-मेघावी मुनि स्थूलभद्र अपने पन्द्रह सौ मुनियों के साथ नेपाल की ओर चल पड़े। उनमें पांच सौ मुनि विद्यार्थी थे और हजार मुनि उनके सहयोगी।

संघ के अनुरोध पर आचार्य भद्रबाहु ने पूर्वी का ज्ञान देना स्वीकार किया। ज्ञान की गहनता और दुरुहता के कारण मुनिजनों की धृति दुर्बल हो गई। एक-एक कर सभी मुनि निराश हो गए। उनका उत्साह टूट गया। केवल मुनि स्थूलभद्र धृतिपूर्वक पढ़ते रहे। उन्होंने दस पूर्व अर्थ सहित ग्रहण कर लिए। आगे का अध्ययन चालू था। एक बार उनकी बहिर्ने दर्शनार्थ आईं। मुनि स्थूलभद्र के मन में कुतूहल पैदा हुआ और वे अपनी गुफा में सिंह का रूप बना कर बैठ गए। बहिर्ने गुफा के द्वार तक आईं और सिंह को देख, डरकर

भाग गई। उन्होंने आचार्य भद्रबाहु से कहा—‘गुफा में मुनि स्थूलभद्र नहीं हैं। वहाँ तो सिंह बैठा है।’ यह सुनकर आचार्य भद्रबाहु ने सोचा—‘ज्ञान को पचा पाना दुष्कर है।’ उन्होंने स्थूलभद्र को आगे पढ़ाना बंद कर दिया। बहुत अनुनय-विनय करने पर आचार्य भद्रबाहु ने स्थूलभद्र को आगे के चार पूर्व पढ़ाये, किंतु उनका अर्थ नहीं बताया। मुनि स्थूलभद्र चौदह पूर्वी तो बने, किंतु अन्तिम चार पूर्वी का अर्थ उन्हें नहीं मिला।

श्रवणबेलगोल में प्राप्त शिलालेखों के आधार पर इस बात का पता चलता है कि आचार्य भद्रबाहु बारह हजार जैन श्रमणों का संघ लेकर उत्तरापथ से दक्षिणापथ को गए थे। उनके साथ मौर्य-सम्राट् चंद्रगुप्त भी था। आचार्य भद्रबाहु अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुंचने से पूर्व ही चंद्रगिरि पर्वत पर समाधिपूर्ण मरण प्राप्त कर स्वर्गवास हो गए। हर्मन जेकोबो के अनुसार यह देशाटन ई० पू० २६८ से पहले हुआ था। इस प्रकार वीर-निर्वाण १७० से लगभग भद्रबाहु का स्वर्गगमन हुआ।

३. सिद्धसेन दिवाकर

सिद्धसेन का समय विक्रम की चौथी-पांचवी शताब्दी है। इनकी जन्म-स्थली विशाला नगरी थी। इनके पिता का नाम देवर्षि था। ये कात्यायन गोत्रीय ब्राह्मण थे।

सिद्धसेन प्रकांड तार्किक थे। इनकी प्रतिज्ञा थी कि यदि कोई इन्हें शास्त्र-चर्चा में पराजित कर देगा, तो ये उनके शिष्य बन जायेंगे। एक बार ये जंगल से गुजर रहे थे। महान् तार्किक आचार्य वृद्धवादी भी उधर से पाद-विहार कर आ रहे थे। दोनों ने शास्त्रार्थ के लिए एक दूसरे को ललकारा। वहीं शास्त्र चर्चा प्रारंभ हो गई। ग्वाले मध्यस्थ बनाये गए। सिद्धसेन घंटों तक संस्कृत भाषा में धारा-प्रवाह बोलते गये। ग्वाले मूक थे। उन्हें एक अक्षर भी समझ में नहीं आया। आचार्य वृद्धवादी परिषद् और मध्यस्थों को ध्यान में रखकर सहज-सरल भाषा में बोले। ग्वालों ने आचार्य को विजयी घोषित कर दिया। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार सिद्धसेन आचार्य वृद्धवादी के शिष्य हो गए। उनका नाम कुमुदचंद्र रखा। ये मेधावी तो थे ही, आचार्य वृद्धवादी का संपर्क पा उनकी बुद्धि और तीव्र हो गई। आचार्य वृद्धवादी उनको आचार्य पद पर आरूढ़ कर स्वयं संघ-

व्यवस्था से निवृत्त हो गए ।

आचार्य सिद्धसेन को महाराज विक्रमादित्य बहुत सम्मान देते थे । वे उस राज्य-सभा के रत्न थे । उन्होंने बत्तीस बत्तीसियों का निर्माण कर विद्वत् जगत् को आश्चर्यचकित कर दिया । 'कल्याण मन्दिर' स्तोत्र भी उनकी ही कृति है ।

कर्मार देश के शासक देवपाल ने उन्हें 'दिवाकर' की उपाधि से अलङ्कृत किया ।

आचार्य सिद्धसेन महान् क्रांतिकारी और अनुपम कवि थे । उस समय यह उक्ति प्रचलित थी—'अनुसिद्धसेनं कवयः'— सभी कवि सिद्धसेन के पीछे हैं, अर्थात् कवियों में सिद्धसेन ही अग्रणी हैं । इन्होंने न्याय के क्षेत्र को विस्तृत किया । न्याय विषयक अनेक ग्रंथ रचे और अनेक स्थानों पर शास्त्रार्थ कर जैन धर्म की ध्वजा को फहराया ।

इनका स्वर्गवास प्रतिष्ठानपुर में हुआ ।

४. आचार्य हरिभद्र

इनका समय विक्रम की सातवीं-आठवीं शताब्दी माना जाता है । ये चितौड़ [चित्रकूट] के ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे । ये राज-पुरोहित थे । राजदरबार में इनकी अपूर्व प्रतिष्ठा थी ।

ये वैदिक परम्परा के उद्भट विद्वान् थे । इन्हें अपने ज्ञान पर गर्व था । ये अपने पास एक कुदाली, एक जाल और एक निसैनी रखते थे । कुदाली इसलिए कि यदि प्रतिद्वन्द्वी हारकर जमीन में जा छिपे तो जमीन को कुदाली से खोदकर निकाल ले । जाल इसलिए कि यदि प्रतिद्वन्द्वी जल में जा छिपे तो उसे जाल में फंसाकर निकाल ले और निसैनी इसलिए कि यदि वह आकाश में चला जाए तो निसैनी पर चढ़कर उतार लाये । ये तीनों चिह्न उनके अहंके द्योतक थे ।

एक बार वे राजदरबार से घर आ रहे थे । रास्ते में एक जैन उपाश्रय था । यहां साध्वी-संघ की प्रवर्तनी महत्तरा याकिनी स्वाध्याय करती हुई एक गाथा का बार-बार उच्चारण कर रही थी—

'चक्रवृगं हरिपणगं, पणगं चक्कोण केसवो चक्की ।

केसव चक्की केसव, दुचक्की केसव चक्की य ॥

[इस भरत क्षेत्र में दो चक्रवर्ती, पांच वासुदेव, पांच चक्रवर्ती, एक वासुदेव, एक चक्रवर्ती, एक वासुदेव, एक चक्रवर्ती, एक वासुदेव,

दो चक्रवर्ती, एक वासुदेव और एक चक्रवर्ती हुए हैं।]

हरीभद्र ने यह गाथा सुनी। वे वहां खड़े रहे। पुनः गाथा सुनी। उसका अर्थ-बोध नहीं हुआ। इन्हें अपने ज्ञान पर निराशा हुई। वह महत्तरा के पास पहुंचे। गाथा का अर्थ समझा और महत्तरा के शिष्य बन गये। अब ये जैन मुनि होकर विचरण करने लगे।

पहले से ही ये वैदिक दर्शन के प्रकांड विद्वान् थे। जैन आगमों का गहन अध्ययन कर वे जैन विद्या के भी पारगामी विद्वान् हो गए।

एक बार इन्होंने अपने दो प्रिय शिष्यों— हंस और परमहंस को बौद्ध न्याय का अध्ययन करने के लिए नालन्दा भेजा। दोनों शिष्य छद्मवेश में वहां पहुंचे। गहरा अध्ययन किया। किन्तु एक दिन उनके जैन होने का भेद खुल गया। बौद्ध शिष्य उन्हें पकड़ लेना चाहते थे। वे प्राण बचा कर भागे। हंस रास्ते में ही स्वर्गस्थ हो गया। परमहंस आचार्य हरिभद्र तक पहुंचा और उनके चरणों में उसने प्राण त्याग दिए। दोनों शिष्यों की मृत्यु से हरिभद्र का मन क्षुब्ध हो गया।

वे कोपाविष्ट होकर अपने तंत्र बल से १४४४ बौद्ध छात्रों को बुलाकर तेल के कडाह में तलने का महान् हिंसा का उपक्रम सोचने लगे। इस हिंसात्मक घटना की सूचना आचार्य जिनदत्त को मिली। उन्होंने कोपाविष्ट हरिभद्र को प्रतिबोध देने के लिए दो मुनियों को तीन श्लोक देकर भेजा। आचार्य जिनदत्त द्वारा प्रेषित इन श्लोकों को पढ़ते ही हरिभद्र का कोप शान्त हो गया और उन्होंने इन श्लोकों के आधार पर समरादित्य काव्य की रचना की।

उन्होंने सभी बौद्ध शिष्यों को अभयदान दिया और प्रायश्चित्त स्वरूप १४४४ ग्रन्थों की रचना का संकल्प किया। वे सब ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं। वर्तमान में जो उपलब्ध हैं वे भी कम नहीं हैं।

हरिभद्रसूरि आगमों के प्रथम संस्कृत टीकाकार थे। इन्होंने आवश्यक सूत्र, दशवैकालिक, नंदी आदि पर टीकाएं लिखकर जैन शासन को उपकृत किया है। इनकी टीकाएं प्रशस्त और विद्वत्तापूर्ण हैं।

इनकी लेखनी अनेक विषयों पर चली। ये योग के पुरस्कर्ता और न्याय-ग्रंथों के रचयिता थे। अनेकांत जयपताका, योगदृष्टि समुच्चय, षड्दर्शन, योगशतक, योगबिन्दु आदि इनकी अपूर्व रचनाएं हैं। ये समन्वय की शृंखला के अग्रणी आचार्य थे।

५. आचार्य अभयदेव

अभयदेव नाम के अनेक आचार्य हुए हैं। नवांगी टीकाकार के रूप में प्रसिद्ध आचार्य अभयदेव का जन्म धारानगरी में विक्रम सं० १०७२ में हुआ था। इनके पिता का नाम महीधर और माता का नाम धनदेवी था। इन्होंने बाल्यावस्था में आचार्य वर्द्धमानसूरि के पास दीक्षा ग्रहण की और सोलह वर्ष की अवस्था में ये आचार्य बन गए।

एक दिन ये ध्यान कर रहे थे। इनके मन में आगमों पर टीकाएं लिखने का विचार आया। शासनदेवी ने इस कार्य के लिए इन्हें प्रेरित किया और ये आगमों पर टीका लिखने के लिए प्रस्तुत हो गए। टीका-रचनाकाल इन्होंने आचाम्ल [आयंबिल] तप करना प्रारम्भ किया। प्रतिदिन के आयंबिल ने इनके शरीर को कृश ही नहीं रोगग्रस्त भी बना डाला। इनके शरीर में सफेद कुष्ठ हो गया। लोगों में यह अपवाद फैला कि आगमों की उत्सूत्र प्ररूपणा के कारण शासनदेवी ने रुष्ट होकर इन्हें यह दण्ड दिया है। यह बात आचार्य अभयदेव ने सुनी। इनका मन तिलमिला उठा। धैर्य विचलित हुआ। शासनदेवी ने प्रकट होकर धीरज धारण करने की प्रेरणा दी। कुष्ठ रोग समाप्त हो गया। पुनः उसी उत्साह से कार्य चालू रखा और बहुत थोड़े समय में नौ अंगों की टीकाएं लिख कर ये सदा-सदा के लिए अमर हो गए।

तिरेसठ वर्ष की अवस्था में वि० सम्वत् ११३५ में गुजरात के कपड़गंज गांव में इनका स्वर्गवास हुआ।

६. आचार्य हेमचंद्र

इनका जन्म विक्रम सम्वत् ११४५ की कार्तिक पूर्णिमा के दिन गुजरात प्रान्त के धंधुका गांव में हुआ। इनका जन्म नाम 'चंगदेव' था। इनके पिता का नाम चाचदेव और माता का नाम पाहिनी था।

ये आचार्य देवचंद्रसूरि के पास दीक्षित हुए। इक्कीस वर्ष की अवस्था में ये आचार्य बने। महाराज सिद्धराज की प्रेरणा से इन्होंने सर्वांग परिपूर्ण व्याकरण का निर्माण किया, जो 'सिद्धहेमशब्दानु-शासन' के नाम से प्रसिद्ध है। इस व्याकरण से महाराज सिद्धराज

बहुत प्रसन्न हुए और वे सदा-सदा के लिए आचार्य हेमचंद्र के अनुयायी बन गए ।

आचार्य हेमचन्द्र कलिकालसर्वज्ञ के नाम से प्रसिद्ध हैं । ऐसे तो कलिकाल में सर्वज्ञता प्राप्त नहीं होती, किंतु आचार्य हेमचन्द्र की सूक्ष्ममेधा, बहुआयामी बुद्धि और विविध विधाओं की साहित्य-रचना ने इन्हें सर्वज्ञ तुल्य बना डाला । कहा जाता है कि साहित्य की एक भी विधा ऐसी नहीं है, जिसमें आचार्य हेमचन्द्र ने साहित्य न रचा हो । इनके कुछेक प्रमुख ग्रन्थ ये हैं—अभिधानचिन्तामणिकोष, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, संस्कृतद्वयाश्रय महाकाव्य, प्राकृत द्वयाश्रय महाकाव्य, योगशास्त्र, प्रमाणमीमांसा, काव्यानुशासन आदि ।

सिद्धराज के बाद कुमारपाल ने पाटण का राज्यभार संभाला । वह भी आचार्य हेमचंद्र का अनन्य भक्त बना रहा ।

माना जाता है कि आचार्य हेमचन्द्र सरस्वती के वरदपुत्र थे । एक साथ ८४ कलमें चलती थीं । इन्होंने लगभग साढ़े तीन करोड़ पद्य-प्रमाण साहित्य रचा और सरस्वती के भण्डार को भरा ।

ये तिरेसठ वर्ष की अवस्था तक संयम पालन करते रहे । इनका स्वर्गवास चौरासी वर्ष की आयु में विक्रम सम्वत् १२२६ में पाटण में हुआ ।

दिगम्बर परम्परा

१. आचार्य कुन्दकुन्द

प्राचीन उल्लेखों के अनुसार इनका जन्मस्थान दक्षिण भारत का हेमग्राम है । इसकी वर्तमान पहचान तमिलनाडु में स्थित 'पोन्नूर' गांव से की जाती है । उसे ही 'कोण्डपुर' कहा जाता था । इनके पिता का नाम करमण्डू और माता का नाम श्रीमती था । इनके पांच नाम थे :—

१. पद्मनन्दि—दीक्षा के समय का नाम ।
२. कुन्दकुन्द—गांव के आधार पर प्रचलित नाम ।
३. वक्रग्रीव—गर्दन कुछ टेढ़ी होने के कारण प्रचलित नाम ।
४. एलक ।
५. गृद्धपिच्छ—विदेह क्षेत्र से लौटते समय रास्ते में मयूर-

पिच्छ गिर जाने पर गृद्धपिच्छ लेकर लौटे । अतः उक्त नाम प्रचलित हुआ ।

माना जाता है कि ये चरणऋद्धि से सम्पन्न थे । ये भूमि पर चार अंगुल ऊपर चलते थे । इनके दीक्षागुरु जिनचंद्र और शिक्षागुरु कुमारनन्दि थे ।

इन्होंने ८४ प्राभृतों की रचना की, किन्तु आज केवल बारह प्राभृत ही उपलब्ध हैं । उनमें दर्शनप्राभृत, चारित्रप्राभृत, बोधप्राभृत आदि मुख्य हैं । इनके मुख्य ग्रन्थ ये हैं—समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय आदि ।

इनका कार्यकाल विक्रम की प्रथम शताब्दी माना जाता है ।

२. आचार्य अकलंक

इनका जन्म कर्नाटक प्रान्त के मान्यखेट नगरी के राजा शुभतुंग के मंत्री पुरुषोत्तम के घर हुआ था । इनकी माता का नाम जिनमती था । 'भट्ट' इनका पद था । इनके भाई का नाम 'निष्कलंक' था । एक बार दोनों भाई बौद्ध तर्कशास्त्र का अभ्यास करने के लिए एक बौद्धमठ में गये । वहाँ इन्होंने बौद्ध तर्कशास्त्र का गहन अध्ययन किया । उन दिनों जैन और बौद्धों में संघर्ष चल रहा था । कुछ दिनों बाद इनके जैन होने का पता लगा । विरोध का आभास हुआ । वे वहाँ से निकले, किन्तु निष्कलंक मारे गये, अकलंक बच निकले । उन्होंने आचार्यपद प्राप्त कर कलिंग नरेश हिमशीतल की सभा में बौद्धों से वादविवाद किया । विरोधी पक्ष वाले एक घड़े में तारादेवी की स्थापना करते और उसके प्रभाव से वे बाद में अजेय वान जाते । अकलंक ने यह रहस्य जान लिया । उन्होंने अपने शासन-देवता की आराधना की और घड़े को फोड़ बौद्धों को पराजित किया ।

ये जैन न्याय के प्रवर्तक माने जाते हैं । इनके समय में ही जैन न्याय को व्यवस्थित रूप मिला । उत्तरकालीन ग्रन्थकार अनन्तवीर्य, माणिक्यनन्दि आदि ने अकलंक द्वारा प्रस्थापित जैन न्याय की पद्धति का अनुसरण या विस्तार किया है । इनके मुख्य ग्रन्थ ये हैं—तत्त्वार्थ-राजवार्तिक सभाष्य, लघीयस्त्रयी, अष्टशती आदि ।

ये आचार्य हरिभद्र के समकालीन थे । इनका समय विक्रम की सातवीं-आठवीं शताब्दी है । अनेक राजे इनके भक्त थे ।

आचार्य समन्तभद्र, वीरसेन, माणिक्यनन्दि, देवन्दी पूज्य-

पाद, आदि अनेक आचार्यों ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया है।

जैन-धर्म : विकास और त्नास

विश्व की प्रत्येक प्रवृत्ति को उतार-चढ़ाव का सामना करना पड़ा है। कोई भी प्रवृत्ति केवल उन्नति और अवनति के बिन्दु पर अवस्थित नहीं रहती।

जैन धर्म के विकास के मुख्य हेतु ये हैं :

१. मध्यम मार्ग—जैन आचार्यों ने गृहस्थ के लिए अणुव्रतों का विधान कर उसकी सामाजिक अपेक्षाओं का द्वार बन्द नहीं किया।

२. समन्वय—जैन धर्म के भिन्न-भिन्न विचारों का सापेक्ष दृष्टि से समन्वय होने के कारण वह विभिन्न विचारधारा के लोगों को अपनी ओर आकृष्ट कर सका।

३. समाहार—जैन धर्म में जातिवाद की तात्त्विकता मान्य नहीं थी, इसलिए सभी जाति के लोग उसे अपनाते रहे।

४. परिवर्तन की क्षमता—जैन आचार्यों ने सामाजिक परंपरा को शाश्वत का रूप नहीं दिया। इसलिए जैन समाज में देश और काल के अनुसार परिवर्तन का अवकाश रहा। यह जनता के आकर्षण का सबल हेतु रहा।

५. सैद्धांतिक सहिष्णुता—दूसरों धर्मों में सिद्धांतों को सहने की क्षमता के कारण जैन धर्म दूसरों की सहानुभूति अर्जित करता रहा।

६. जन भाषा का प्रयोग।

७. अहिंसा का व्यवहार में प्रयोग

८. प्रामाणिकता—जैन गृहस्थ अहिंसा-पालन के साथ-साथ कर्त्तव्य के प्रति बहुत जागरूक थे। वे देश के विकास और रक्षा के लिए अपना सर्वस्व समर्पित कर देते थे।

दक्षिण के जैन समाज ने जीविका [अन्नदान], शिक्षा, [ज्ञानदान], चिकित्सा [औषधदान] और अहिंसा [अभयदान] के माध्यम से जैन-धर्म को जन-धर्म का रूप दे दिया था।

९. सशक्त और कुशल आचार्यों का नेतृत्व।

विक्रम की नवीं-दसवीं शताब्दी में इन स्थितियों में परिवर्तन आने लगा। फलतः जैन धर्म का विकास अवरुद्ध हो गया।

ह्रास के मुख्य हेतु ये हैं :—

१. आंतरिक पवित्रता और शक्ति की कमी, बाह्य कर्मकांडों की प्रचुरता ।

२. व्यक्तिवादी मनोवृत्ति— दूसरों की हानि से मुझे क्या ? मैं दूसरों के लिए क्यों कर्म बांधू ? इस प्रकार के ऐकांतिक निवृत्तिवादी चिंतन ने परस्परता के बंधन में शिथिलता ला दी ।

दक्षिण भारत में जैन-धर्म के ह्रास के मुख्य तीन कारण हैं :—

१. जैन जागृति करने वाले प्रभावशाली आचार्यों के कार्य-काल में बहुत बड़ा व्यवधान ।

२. ऐसे नेतृत्व का अभाव जो राजनीति और धर्मनीति को साथ-साथ लेकर चल सके ।

३. अन्य धर्मों के बढ़ते हुए प्रभाव की उपेक्षा और अपने आपको एकांततः आध्यात्मिक बनाए रखने की प्रवृत्ति ।

दक्षिण के मुख्य दो प्रांतों में ह्रास के अन्यान्य कारण भी रहे हैं :

१. तमिलनाडु में ह्रास के कारण

१. शैव नायनार और वैष्णव अल्वारों का उदय ।

२. उनके द्वारा जातिवाद का बहिष्कार कर अपने धर्म-संघ में नीची जाति वालों का प्रवेश ।

३. राजधर्म को प्रभावित कर राजाओं को अपने मत के प्रति आकृष्ट करना ।

४. जैन स्तुतियों का अनुकरण कर शैव स्तुतियों का निर्माण करना ।

२. कर्नाटक में ह्रास के कारण

१. राष्ट्रकूट और गंगवंशीय राजाओं का अंत ।

२. वीर शैवमत के उदयकाल में जैन आचार्यों की उपेक्षा और उनके प्रभाव को रोक पाने की अक्षमता ।

३. बसवेश्वर द्वारा प्ररूपित 'लिगायत' धर्म के बढ़ते चरण को रोक न पाना ।

४. अनेक राजाओं का शैव-मत में दीक्षित हो जाना ।

विकास और ह्रास कालचक्र के अनिवार्य नियम हैं । इस विषय में कोई भी वस्तु केवल विकास या ह्रास की रेखा पर अवस्थित नहीं

रहती । आरोह के बाद अवरोह और अवरोह के बाद आरोह चलता रहता है । जैन धर्म के अनुयायी-समाज की संख्या में ह्रास हुआ है । किंतु भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित शाश्वत सत्यों का ह्रास नहीं हुआ है । उनके सापेक्षता, सह-अस्तित्व, अहिंसा, मानवीय एकता, निःशस्त्रीकरण, स्वतंत्रता और अपरिग्रह के सिद्धांत विश्वमानस में निरंतर विकसित होते जा रहे हैं ।

चिन्तन के विकास में जैन आचार्यों का योग

श्रद्धावाद-हेतुवाद

चिन्तन की तुलना सरिता के उस प्रवाह से की जा सकती है जिसका उद्गम छोटा होता है और गतिशील होने के साथ-साथ वह विशालकाय होता चला जाता है। भारतीय मानस श्रद्धा-प्रधान रहा है। उसमें तर्क-बीज की अपेक्षा श्रद्धा-बीज अधिक अंकुरित हुए हैं। इसीलिए यहां मौलिक चिन्तक अपेक्षाकृत कम हुए हैं। धर्म के क्षेत्र में कुछ महान् साधक, अवतार या तीर्थंकर हुए हैं। वे हिमालय की भांति अत्यंत महान् थे। उनकी महानता तक मौलिक चिन्तक भी नहीं पहुंच पाते थे। फलतः उनके प्रति चिन्तकों का श्रद्धानत होना स्वाभाविक था। साधारण जन तो श्रद्धानत था ही किंतु साधारण जन की श्रद्धा और चिन्तक की श्रद्धा में एक अन्तर था। साधारण जन अपने श्रद्धेय की हर वाणी को श्रद्धा से स्वीकार करता था। चिन्तक अपने श्रद्धेय की महान् आध्यात्मिक उपलब्धि के प्रति श्रद्धानत होने पर भी उनके प्रत्येक वचन को श्रद्धा से स्वीकार करने का आग्रह नहीं करता था। आचार्य सिद्धसेन जैन परम्परा में मौलिक चिन्तक हुए हैं। उनकी ज्ञान-गरिमा अगाध थी। वे भगवान् महावीर के प्रति अत्यन्त श्रद्धाप्रणत थे, किंतु साथ-साथ अपने स्वतंत्र चिन्तन का भी प्रयोग करते थे। उन्होंने अनेक तथ्यों पर अपना स्वतंत्र मत व्यक्त किया। उस समय के श्रद्धावादी आचार्यों और मुनियों ने उनके सामने तर्क उपस्थित किया—‘जो तथ्य आगम-ग्रंथों में प्रतिपादित हैं, उनके प्रतिकूल किसी भी सिद्धान्त की स्थापना कैसे की जा सकती है?’ आचार्य सिद्धसेन ने इस तर्क का सीधा खण्डन भी नहीं किया और उनके मत का समर्थन भी नहीं किया। उन्होंने स्याद्वाद की शैली से एक नया चिन्तन प्रस्तुत किया। उन्होंने बताया कि महावीर ने दो प्रकार के तत्त्वों का प्रतिपादन किया है—हेतुगम्य, अहेतुगम्य।

अहेतुगम्य तत्त्व चिन्तन और तर्क की सीमा से परे होते हैं। उन्हें समझने के लिए तर्क का उपयोग नहीं हो सकता। वे श्रद्धा के विषय हैं। हम अतीन्द्रिय-तत्त्व और अतीन्द्रिय-ज्ञान को स्वीकार करते हैं। तर्क इन्द्रिय ज्ञान की परिधि में होता है। गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा—‘भंते ! जैसे हम श्वास लेते हैं, वैसे ही क्या पृथ्वीकाय के जीव भी श्वास लेते हैं ?’ भगवान् ने इसका स्वीकारात्मक उत्तर दिया। इन्द्रिय के द्वारा यह गम्य नहीं है, इसलिए यह तर्क का विषय भी नहीं है। किन्तु महावीर ने क्या ऐसे तत्त्वों का प्रतिपादन नहीं किया जो इन्द्रियगम्य हैं और जिनकी व्याख्या तर्क के द्वारा की जा सकती है ? आचार्य सिद्धसेन ने यह चिन्तन प्रस्तुत किया कि जो व्यक्ति अहेतुगम्य तत्त्वों का आगम-प्रामाण्य के द्वारा और हेतुगम्य तत्त्वों का तर्क-प्रामाण्य के द्वारा प्रतिपादन करता है, वह आगम के हृदय को यथार्थ समझता है और उनका यथार्थ प्रतिपादन करता है। जो व्यक्ति हेतुगम्य और अहेतुगम्य दोनों तत्त्वों को केवल आगम-प्रामाण्य से समझने का प्रयत्न और प्रतिपादन करता है, उसने आगम के यथार्थ को नहीं समझा और उनके प्रतिपादन की यथार्थ पद्धति भी उसे प्राप्त नहीं है।

इस विचार का बीज-वपन निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने किया था। उनका युग तर्कशास्त्र के विकास का प्रारम्भिक युग था। इसलिए उन्होंने आगम और दृष्टान्त—इन दो शब्दों का प्रयोग किया था—आगमगम्य तत्त्व आगम के द्वारा और दृष्टान्तगम्य तत्त्व दृष्टान्त के द्वारा जानने चाहिए। आचार्य सिद्धसेन तर्कशास्त्र के विकासकर्त्ताओं में अग्रणी थे। इसलिए उन्होंने दृष्टान्त के स्थान पर हेतुवाद का प्रयोग किया है।

आगम युग में तर्क के लिए कोई अवकाश नहीं था। सत्य का साक्षात्कार करने वाला व्यक्ति जो बात कहे उसके प्रति तर्क कैसे हो सकता था ? जब सत्य के साक्षात् द्रष्टा नहीं रहे तब तर्क का विकास होने लगा। तार्किक विद्वान् प्रत्येक तत्त्व को तर्क की कसौटी पर कसने लगे। उसी स्थिति में यह विचार प्रस्फुटित हुआ कि सब कुछ तर्क का विषय नहीं है। महर्षि मनु ने इसी संदर्भ में लिखा था—पुराण, मानव धर्म, अंगयुक्तवेद और आयुर्वेद—ये

आज्ञासिद्ध हैं। ये हेतु द्वारा परीक्षणीय नहीं हैं। शास्त्र की अपरीक्षणीयता का बौद्ध आचार्यों ने सशक्त प्रतिवाद किया। उन्होंने कहा—आपके शास्त्रों में कुछ चिंतनीय है, इसीलिए आप उन पर विचार करने से कतराते हैं। यदि सोना निर्दोष है तो फिर उसको परीक्षा से डर क्यों? उन्होंने बुद्ध के मुख से कहलाया—जैसे समझदार मनुष्य कसौटी, छेद और ताप के द्वारा परीक्षा कर स्वर्ण को लेता है, भिक्षुओ! तुम वैसे ही कसौटी, छेद और ताप के द्वारा परीक्षा कर मेरे वचन को स्वीकार करो। मैं कहता हूँ, इसलिए उसे स्वीकार मत करो—

१. अस्ति वक्तव्यता काचित्, तेनेदं न विचार्यते ।

निर्दोषं कांचनं चेत् स्यात्, परीक्षाया विभेति किम् ?

२. निकषच्छेदतापेभ्यः, सुवर्णमिव पण्डितैः ।

परीक्ष्य भिक्षवो ! ग्राह्यं, मद्रुचो न तु गौरवात् ॥

जैन आचार्यों ने इन दोनों अतिवादों से बचकर अपना चिंतन स्थिर किया। उन्होंने सूक्ष्म तत्त्व को आज्ञासिद्ध और स्थूल तत्त्व को परीक्षासिद्ध बतलाया।

आचार्य सिद्धसेन ने स्वतंत्र चिंतन और हेतुवाद का जो मूल्यांकन किया, वह सबको मान्य नहीं हुआ। फलतः जैन परंपरा में दो धाराएं निर्मित हो गईं—सिद्धान्तवादी और तर्कवादी।

सिद्धान्तवादी आगमिक प्रतिपादन को शब्दशः और अक्षरशः स्वीकार करते थे। तर्कवादी आगम के हेतुगम्य तत्त्वों की तार्किक समीक्षा भी करते थे और उनके साथ नया चिंतन भी जोड़ते थे। सिद्धान्तवादियों ने अपनी सारी शक्ति आगमिक वचनों के समर्थन में लगाई, जबकि तार्किक विद्वानों की शक्ति अपने समसामयिक दार्शनिकों के तर्कों को समझने और उनकी जैन-पद्धति से मीमांसा करने में लगी। उन्होंने दूसरे दर्शनों से कुछ लिया और उन्हें कुछ देने का प्रयत्न भी किया। यह समाहार की वृत्ति सत्य को अनेकान्त दृष्टि से देखने पर ही प्राप्त हो सकती थी। आचार्य सिद्धसेन ने सत्य को व्यापक दृष्टि से देखा तभी उन्हें यह दिखाई दिया कि विश्व के किसी भी दर्शन में जो सुप्रतिपादित है, वह महावीर के वचन का ही बिंदु है। वे महावीर को एक व्यक्ति के रूप में नहीं देखते हैं। उनके लिए महावीर एक आत्मा है। आत्मा ही परम सत्य है। जहां

कहीं भी सत्य के कण दिखाई देते हैं, वे सब आत्मा की ज्योति के ही स्फुलिंग हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने आचार्य सिद्धसेन के अभिमत को सहज भाषा में प्रस्तुत किया है - जिस किसी समय में, जिस किसी रूप में और जिस किसी नाम से, जिस किसी रूप में आप प्रकट हों, यदि आप वीतराग हैं तो आप मेरे लिए एक ही हैं। मैं वीतराग के प्रति प्रणत हूँ, देश, काल तथा नाम और रूप के प्रति प्रणत नहीं हूँ।

यथार्थवाद

जैन धर्म यथार्थवादी है। यथार्थवाद में सत्य का स्वीकार श्रद्धा से नहीं होता। न व्यक्ति के प्रति श्रद्धा और न सिद्धान्त के प्रति श्रद्धा। दोनों की परीक्षा की जाती है। आचार्य हेमचन्द्र ने इस वास्तविकता को बहुत ही स्पष्ट शब्दों में उजागर किया है। उन्होंने लिखा है—‘भगवन् ! श्रद्धा से आपके प्रति हमारा पक्षपात नहीं है। अन्य दार्शनिकों के प्रति द्वेष के कारण हमारी अरुचि नहीं है। हमने आप्तत्व की परीक्षा की है। उस परीक्षा में आप खरे उतरते हैं। इसलिए हमने आपका अनुगमन किया है।

आचार्य हरिभद्र ने इस सत्य को निरपेक्ष शब्दों में अभिव्यक्त किया है। वे कहते हैं—‘महावीर के प्रति मेरा कोई पक्षपात नहीं है और कपिल आदि दार्शनिकों के प्रति मेरा कोई द्वेष नहीं है। मैं इस विचार का व्यक्ति हूँ कि जिसका विचार युक्ति-युक्त हो, उसका अनुगमन करना चाहिए।

इस स्पष्ट विचार का आधार यथार्थवाद है। पौराणिक काल में अपने इष्टदेव का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करने की होड़-सी लगी थी। फलतः जितने भी महापुरुष हुए उनका मानवीय रूप देवी चमत्कारों से आवृत हो गया। यह स्थिति यथार्थवाद के अनुकूल नहीं थी। आचार्य समन्तभद्र ने इस पर तीव्र प्रहार किया। उन्होंने इन चमत्कारों को महानता का मानदण्ड मानने से अपनी असहमति प्रकट की। उन्होंने महावीर को चमत्कारों के आवरण से निकालकर यथार्थवाद के आलोक में देखने का प्रयत्न किया। उनका प्रसिद्ध श्लोक है—

देवागमनभोयान-चामरादिविभूतयः ।

मायाविष्वपि दृश्यन्ते, नातस्त्रमसि नो महान् ॥

‘भगवन् ! देवताओं का आना, आकाश-विहार, छत्र-चामर आदि विभूतियां ऐन्द्रजालिक व्यक्तियों के भी हो सकती हैं। आपके पास देवता आते थे। आप छत्र, चामर आदि अनेक यौगिक विभूतियों से सम्पन्न थे। इसलिए महान् नहीं। आप इसलिए महान् हैं कि आपने सत्य को अनावृत किया था।’

आचार्य हेमचन्द्र ने भी चिन्तन की इसी धारा को विकसित किया। उन्होंने कहा—‘आपके चरण-कमल में इन्द्र लुठते थे, इस बात का दूसरे दार्शनिक खण्डन कर सकते हैं या अपने इष्टदेव को भी इन्द्रपूजित कह सकते हैं, किन्तु आपने जो यथार्थवाद का निरूपण किया, उसका वे निराकरण कैसे करेंगे?’

प्राचीनता और नवीनता

पुरानी और नयी पीढ़ी का संघर्ष बहुत पुराना है। पुराने व्यक्ति और पुरानी कृति को मान्यता प्राप्त होती है। नये व्यक्ति और नयी कृति को मान्यता प्राप्त करनी होती है। मनुष्य स्वभाव से इतना उदार नहीं है कि वह सहज ही किसी को मान्यता दे दे। नयी पीढ़ी में मान्यता प्राप्त करने की छटपटाहट होती है और पुरानी पीढ़ी का अपना अहं होता है, अपना मानदण्ड होता है। इसलिए वह नयी पीढ़ी को नये मानदण्डों के आधार पर मान्यता देने में सकुचाती है। यह संघर्ष साहित्य, आयुर्वेद और धर्म—सभी क्षेत्रों में रहा है। ‘पुराना होने मात्र से सब-कुछ अच्छा नहीं होता’—महाकवि कालिदास का यह स्वर दो पीढ़ियों के संघर्ष से उत्पन्न स्वर है। उनके काव्य और नाटक के प्रति पुराने विद्वानों ने उपेक्षा-पूर्ण व्यवहार किया तब उन्हें यह कहने के लिए बाध्य होना पड़ा—‘पुराना होने मात्र से कोई काव्य प्रकृष्ट नहीं होता और नया होने मात्र से कोई काव्य निकृष्ट नहीं होता। साधुचेता पुरुष परीक्षा के बाद ही किसी काव्य को प्रकृष्ट या निकृष्ट बतलाते हैं और जो मूढ होता है, वह बिना सोचे-समझे पुराणता का गीत गाता रहता है।’

आचार्य वाग्भट्ट ने अष्टांगहृदय का निर्माण किया। आयुर्वेद के धुरंधर आचार्यों ने उसे मान्य नहीं किया। वाग्भट्ट को भी पुरानी पीढ़ी के तिरस्कार का पात्र बनना पड़ा। उसी मनःस्थिति में उन्होंने यह लिखा—‘वायु की शांति के लिए तैल, पित्त की शांति के लिए घी

और श्लेष्म की शांति के लिए मधु पथ्य है। यह बात चाहे ब्रह्मा कहे, या ब्रह्मा का पुत्र, इसमें वक्ता का क्या अन्तर आएगा? वक्ता के कारण द्रव्य की शक्ति में कोई अन्तर नहीं आता, इसलिए आप मात्सर्य को छोड़ मध्यस्थ दृष्टि का अवलंबन लें।

प्राचीनता और नवीनता के प्रश्न पर महाकवि कालिदास और वाग्भट्ट का चिन्तन बहुत महत्त्वपूर्ण है। किन्तु इस विषय में आचार्य सिद्धसेन की लेखनी ने जो चमत्कार दिखाया है, वह प्राचीन भारतीय साहित्य में दुर्लभ है। उनका चिन्तन है कि कोई व्यक्ति नया नहीं है और कोई पुराना नहीं है। जिसे हम पुराना मानते हैं, एक दिन वह भी नया था और जिसे हम नया मानते हैं, वह भी एक दिन पुराना हो जाएगा। आज जो जीवित है, वह मरने के बाद नयी पीढ़ी के लिए पुरानों की सूची में आ जाता है। पुराणता अवस्थित नहीं है, इसलिए पुरातन व्यक्ति की कही हुई बात पर भी बिना परीक्षा किए कौन विश्वास करेगा?

आचार्य सिद्धसेन ने भगवान् महावीर की अभय की भावना को आत्मसात् कर लिया था। वे सत्य के प्रकाशन में सकुचाते नहीं थे। मुक्त-समीक्षा और प्राचीनता की युक्तिसंगत आलोचना के कारण उनका विरोध बढ़ रहा था। वे इस स्थिति से परिचित थे, किन्तु स्वतंत्रचेता व्यक्ति इस प्रकार की स्थिति से घबराता नहीं। उनका अभय स्वर इस भाषा में प्रस्फुटित हुआ—

‘पुराने पुरुषों ने जो व्यवस्था निश्चित की है, क्या वह चिन्तन करने पर उसी रूप में सिद्ध होगी? नहीं भी हो सकती है। उस स्थिति में मृत पुरुषों की जमी हुई प्रतिष्ठा के कारण उस असिद्ध व्यवस्था का समर्थन करने के लिए मेरा जन्म नहीं हुआ है। इस व्यवहार से यदि मेरे विद्वेषी बढ़ते हैं तो भले ही बढ़ें।’

व्यवस्थाएं या मर्यादाएं अनेक प्रकार की हैं और वे परस्पर विरोधी भी हैं। उनका शीघ्र ही निर्णय कैसे किया जा सकता है? फिर भी यह मर्यादा है, यह नहीं है, इस प्रकार का एक पक्षीय निर्णय करना पुरातन के प्रेम से जड़ बने हुए व्यक्ति के लिए ही उचित हो सकता है, किसी परीक्षक के लिए नहीं।’

‘पुरातन-प्रेम के कारण आलसी बना हुआ व्यक्ति जैसे-जैसे यथार्थ का निश्चय नहीं कर पाता, वैसे-वैसे वह निश्चय किए हुए

व्यक्ति की भांति प्रसन्न होता है। वह कहता है, हमारे पूर्वज ज्ञानी थे। उन्होंने जो कुछ कहा, वह मिथ्या कैसे हो सकता है? मैं मन्द-मति हूँ, उसका आशय नहीं समझ सकता, यह मेरी अल्पता है। किंतु गुरुजनों की कही हुई बात अन्यथा नहीं हो सकती। ऐसा निश्चय करने वाला व्यक्ति आत्म-नाश की ओर दौड़ता है।'

'शास्त्रकार हमारे जैसे ही मनुष्य थे। उन्होंने मनुष्यों के लिए ही मनुष्यों के व्यवहार और आचार निश्चित किए हैं। जो लोग परीक्षा करने में आलसी हैं, वे ही यह कह सकते हैं कि उनकी थाह नहीं पायी जा सकती, उनका पार नहीं पाया जा सकता। किन्तु परीक्षक व्यक्ति उन्हें अगाध मानकर कैसे स्वीकार करेगा? वह परीक्षापूर्वक ही उन्हें स्वीकार कर सकता है।

'एक शास्त्र असम्बद्ध और अस्त-व्यस्त रचा हुआ होता है, फिर भी वह पुरातन पुरुषों के द्वारा रचित है, यह कहकर उसकी प्रशंसा करते हैं। आज का बना हुआ शास्त्र सम्बद्ध और संगत है, फिर भी नवीन होने के कारण उसे नहीं पढ़ते। यह मात्र स्मृति का मोह है, परीक्षा का विवेक नहीं है।'

अल्पवया शिशु की बात युक्तियुक्त हो सकती है और पुराने पुरुषों की कही हुई बात दोषपूर्ण हो सकती है, इसलिए हमें परीक्षक बनना चाहिए। नवीनता की उपेक्षा और प्राचीनता का मोह हमारे लिए उचित नहीं है। यह विक्रम की पांचवीं शती का चिन्तन आज के वैज्ञानिक युग में और अधिक मूल्यवान् बन गया है।

काल-हेतुक अवरोध और उनके फलित

भारतीय चिन्तन का यह व्यापक रूप रहा है कि पुरातन काल सतयुग था। वर्तमान युग कलिकाल है। इसमें प्रकृष्टता निकृष्टता की ओर चली जाती है। इस चिन्तन के आधार पर भारतीय जनता का विश्वास दृढ़ हो गया है कि प्राचीन काल में जो अच्छाइयाँ, क्षमताएँ और विशेषताएँ थीं, वे इस कलिकाल में समाप्त हो चुकी हैं और रही-सही समाप्त होती जा रही हैं। इस चिन्तन-धारा ने एक विचित्र प्रकार की हीन भावना उत्पन्न कर दी। लगभग पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व कुछ जैन मुनि यह मानने लगे थे कि वर्तमान में धर्म नहीं है, व्रत नहीं है और चरित्र विच्छिन्न हो गया है। वर्तमान में जो जैन शासन चल रहा है वह ज्ञान और दर्शन

के आधार पर चल रहा है। किन्तु आज कोई साधु नहीं है। प्राचीन काल में शरीर का संहनन उत्तम होता था, आज वैसा नहीं रहा। उत्तम संहनन वाले ध्यान के अधिकारी थे, अब कोई ध्यान का अधिकारी नहीं है। ध्यान विच्छिन्न हो गया। प्राचीनकाल में जिनकल्प मुनि विशिष्ट साधना करते थे। अब जिनकल्पसाधना का भी विच्छेद हो गया। विशिष्ट प्रत्यक्षज्ञान और विशिष्ट यौगिक उपलब्धियाँ भी विच्छिन्न हो गईं। चिंतन की इस धारा ने विकास का द्वार अवरुद्ध कर दिया। मुनिजन यह मानकर चलने लगे कि इस दुष्माकाल में विशिष्ट साधना और विशिष्ट उपलब्धि नहीं हो सकती। इस धारणा का प्रभाव भी हुआ। साधना के पथ में अभिनव उन्मेष लाने को मनोवृत्ति शिथिल हो गई। जब यह मान लिया जाता है कि आज विशिष्टता की उपलब्धि नहीं हो सकती, फिर उसके लिए प्रयत्न करने की स्फुरण भी नहीं रहती। कुछ मनीषी मुनियों का ध्यान इस हीनभावना की मनोवृत्ति और उसके फलितों पर गया। उन्होंने इसका प्रतिवाद किया। भाष्यकार संघदासगणी ने कहा - 'जो मुनि यह कहते हैं कि वर्तमान में साधुत्व नहीं है, उन्हें श्रमण-संघ से बहिष्कृत कर देना चाहिए। आचार्य रामसेन ने इसका सशक्त समर्थन किया कि वर्तमान में ध्यान हो सकता है। उसका विच्छेद नहीं हुआ है।

कुछ विच्छिस्तियों के बारे में किसी आचार्य ने कुछ नहीं कहा। यह बहुत ही विमर्शनीय है। विच्छेदों की चर्चा श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं के आचार्यों ने की है। तुलनात्मक दृष्टि से श्वेताम्बर आचार्यों ने अधिक की है। दिगम्बर-परम्परा में ध्यान, कायोत्सर्ग और प्रतिमा के अभ्यास की परम्परा दीर्घकाल तक चली। दिगम्बर आचार्यों ने योग-विषयक ग्रन्थ रचे। श्वेताम्बर परम्परा में ध्यान का अभ्यास सुदूर अतीत में ही कम हो गया था। श्वेताम्बर आचार्यों में जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण, हरिभद्रसूरि, आचार्य हेमचंद्र, उपाध्याय यशोविजयजी आदि कुछेक विद्वान् ही योग ग्रन्थों के निर्माता हुए हैं। आचार्यश्री तुलसी ने योग पर 'मनोनुशासनम्' नाम का ग्रन्थ लिखा। उसके निर्माण की अवधि में उन्होंने कहा— 'यौगिक उपलब्धियों के विच्छेद की बात साधक के मन में पहले से ही न बिठाई जाती तो आज तक जैन परम्परा में योग का अधिक

विकास हुआ होता ।’

साधना करने वाले सब व्यक्तियों का अध्यवसाय समान नहीं होता । उनकी क्षमता भी समान नहीं होती । गति में तारतम्य होता है । किंतु लक्ष्य समान होता है । कौन कितना आगे बढ़ सके, यह उस पर निर्भर है । पहले ही हम उसे अवरोध पट्ट दिखा दें कि तुम इससे आगे नहीं जा सकते तो उसके चरण प्रारम्भ में ही ठिठक जाते हैं । आचार्य हेमचंद्र ने कलिकाल के निमित्त से निर्मित किए गए अवरोधों को तोड़ने के लिए महत्त्वपूर्ण चिंतन प्रस्तुत किया । उन्होंने लिखा कि—‘सुषमाकाल में साधक लम्बी तपस्या के बाद फल प्राप्त करते थे । यह कलिकाल ही ऐसा है, जिसमें साधक अल्पकालीन तपस्या से ही फल प्राप्त कर लेता है । फिर कलिकाल क्या बुरा है ? हमें कृतयुग से क्या प्रयोजन ?’

‘प्रभो ! सुषमा [कृतयुग] की अपेक्षा दुषमा [कलिकाल] में तुम्हारी कृपा अधिक फलवती होती है । कल्पतरु मेरु की अपेक्षा मरुभूमि में अधिक श्लाघनीय होता है ।’

‘कल्याण-सिद्धि के लिए यह कलिकाल कसौटी है । अग्नि के बिना अगर की गंध प्रस्फुटित नहीं होती ।

‘मैं युग-युग तक संसार में भ्रमण कर चुका, किंतु तुम्हारा दर्शन नहीं मिला । मैं इस कलिकाल को नमस्कार करता हूँ जिसमें तुम्हारे दर्शन मिले ।’

‘लोग कहते हैं कि कलिकाल में लोग बहुत उच्छृंखल और दुष्ट होते हैं । क्या कृतयुग में ऐसे लोग नहीं थे ? यह सच है कि उस युग में भी ऐसे लोग थे । फिर हम कलिकाल पर व्यर्थ ही क्यों कुपित होते हैं ?’

कुछ-कुछ आचार्यों ने कालहेतुक अवरोधों को समाप्त करने का प्रयत्न किया, किंतु वे सुस्थिर हो चुके थे । उनका उन्मूलन नहीं किया जा सका ।

अध्यात्म के उन्मेष

भगवान् महावीर का दर्शन आत्मा का दर्शन है । उसके आदि, मध्य और अंत में सर्वत्र आत्मा ही आत्मा है । उसकी गहराइयों में जाने का प्रयत्न अध्यात्म है । इस बिंदु को आचार्य कुन्दकुन्द ने सर्वाधिक विकसित किया । वे जैन परम्परा में अध्यात्म

के मुख्य प्रवक्ता थे। भगवान् महावीर ने मोक्ष के चार मार्ग बतलाए—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप। इनकी व्याख्या अनेकों आचार्यों ने की। वे सब व्याख्याएं व्यवहारनय पर आश्रित हैं। व्यवहारनय स्थूल और बुद्धिगम्य दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है। निश्चयनय का दृष्टिकोण सूक्ष्म और आत्मगम्य है। अध्यात्म का प्रवक्ता निश्चयनय का आलम्बन लेकर चलता है। आचार्य कुन्दकुन्द की अनेक व्याख्याएं और स्थापनाएं निश्चयनय पर अवलम्बित हैं। उन्होंने निश्चयनय के आधार पर कहा—‘आत्मा को जानना ही सम्यक् ज्ञान है, उसे देखना ही सम्यक् दर्शन है और उसमें रमण करना ही सम्यक् चारित्र है।’

उन्होंने व्यवहारनय का अस्वीकार नहीं किया और सामाजिक जीवन में उसका अस्वीकार किया भी नहीं जा सकता। तत्त्व के गहन पर्यायों तक हर आदमी नहीं पहुंच सकता। उसकी पहुंच तत्त्व के कुछेक स्थूल पर्यायों तक होती है। उसे वास्तविक सत्य तक ले जाने के लिए स्थूल सत्य का आलम्बन लेना आवश्यक होता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने इस तथ्य को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया। एक व्यक्ति सीमांत के प्रदेश में गया। उसे एक आदमी मिला। उसने आगन्तुक को नमस्कार किया। आगन्तुक ने उसे स्वस्ति कहकर आशीर्वाद दिया। सीमान्तवासी उसे समझ नहीं सका। आगन्तुक ने सीमान्त प्रदेश की भाषा में आशीर्वाद दिया, तब वह बहुत प्रसन्न हुआ और उसने स्वस्ति का अर्थ भी जान लिया। जैसे सीमान्तवासी को सीमान्त की भाषा के बिना समझाना शक्य नहीं है, वैसे ही व्यवहारदृष्टि वाले व्यक्ति को व्यवहारनय के माध्यम के बिना वास्तविक सत्य समझाना शक्य नहीं है।

व्यवहार की भूमिका पर जीने वाले धार्मिक लोग स्वर्ग के प्रलोभन और नर्क के भय से ही धर्म की बात सोचते हैं। उनकी दृष्टि पुण्य और पाप तक पहुंचती है। परमार्थदर्शी की दृष्टि में आत्मा ही सब कुछ है। आत्मा की भूमिका में पुण्य का कोई महत्त्व नहीं है। व्यवहारदृष्टि के लोग कहते हैं कि अशुभ कर्म कुशील हैं और शुभकर्म सुशील हैं। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द का तर्क है कि शुभ कार्य संसार में प्रवेश कराता है, फिर वह सुशील कैसे? जैसे लोहे की बेड़ी मनुष्य को बांधती है, वैसे ही सोने की बेड़ी भी

बांधती है। अशुभ और शुभ दोनों ही कर्म जीव को बांधते हैं, मुमुक्षु व्यक्ति के लिए दोनों ही वांछनीय नहीं हैं। परमार्थदृष्टि [निश्चयनय] से व्यक्ति संसार और मोक्ष के हेतुओं को नहीं जानते। इसीलिए वे अज्ञानवश पुण्य की इच्छा करते हैं।

विक्रम की सातवीं शताब्दी में भी जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने पुण्य और पाप को इसी कोण से देखा। उन्होंने सुख-दुःख की मीमांसा करते हुए लिखा—‘पुण्य का फल दुःख ही है क्योंकि वह कर्म का उदय ही है। जैसे कर्म का उदय होने के कारण पाप का फल दुःख होता है।’

विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी में आचार्य भिक्षु ने पुण्य और पाप की निश्चयनय से मीमांसा की। उन्होंने लिखा—पुण्य वांछनीय नहीं है। उसकी इच्छा करने से भी पाप का बंध होता है।

जैसे-जैसे न्यायशास्त्र या तर्कशास्त्र का विकास होता गया, वैसे-वैसे साम्प्रदायिक अभिनिवेश और वाद-विवाद बढ़ता गया। महर्षि गौतम ने जल्प, वितण्डा, छल और जाति को तत्त्व रूप में स्वीकृति दी। उसका प्रयोग प्रायः सभी तार्किक करने लगे। जैन आचार्यों के सामने लोकैषणा और लोकसंग्रह का प्रश्न गौण था, अहिंसा का प्रश्न मुख्य। वे तर्क के श्रेत्र में प्रवेश करके भी अहिंसा को नहीं छोड़ सकते थे। उन्होंने तर्क पर अध्यात्म के अंकुश को रखना सदा पसंद किया। आचार्य सिद्धसेन महान् तार्किक थे। उन्होंने जैन परम्परा को तार्किक दृष्टि से समृद्ध किया था। फिर भी विवाद और वितण्डा उन्हें काम्य नहीं थे। उन्होंने लिखा—‘दो गांव से आने वाले और एक मांस-पिण्ड में लुब्ध होकर परस्पर लड़नेवाले कुत्तों में भी मैत्री हो सकती है, किन्तु वाद-विवाद करने वाले दो भाइयों में मैत्री नहीं हो सकती।’ अहिंसाशून्य वाद पर उनका यह तीखा व्यंग्य है। यह व्यंग्य के लिए व्यंग्य नहीं, किन्तु इसके पीछे एक सिद्धांत है। अहिंसा या अध्यात्म के सिद्धान्त में विश्वास करनेवाला इसी भाषा में सोचेगा और बोलेगा। उन्होंने अपने समय की स्थिति का विश्लेषण करते हुए लिखा है—‘श्रेय किसी दूसरी दिशा में है और हमारे धुरंधर वादी किसी दूसरी दिशा में जा रहे हैं। किसी भी मुनि ने वाक्-युद्ध को शिव का उपाय नहीं बतलाया है।’ सिद्धसेन, समंतभद्र, अकलंक आदि आचार्यों ने अनेकांत के बीज को

विकसित किया वैसे ही हरिभद्रसूरि ने समाधि-योग का बीज विकसित किया। महर्षि पतंजलि के योगदर्शन की प्रसिद्धि के बाद प्रत्येक दर्शन की साधना-पद्धति योग के नाम से प्रसिद्ध हो गई। जैन धर्म की साधना-पद्धति का नाम मोक्षमार्ग था। हरिभद्रसूरि ने मोक्षमार्ग को योग के रूप में प्रस्तुत किया। इस विषय में योग-विशिका, योगदृष्टिसमुच्चय, योगबिन्दु, योगशतक उनकी महत्त्वपूर्ण कृतियां हैं। उन्होंने योग की परिभाषा की - 'धर्म की समग्र प्रवृत्ति, मोक्ष के साथ योग कराती है, इसलिए वह योग है।' इसमें महर्षि पतंजलि को 'योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः', गीता की 'समत्वं योग उच्यते', 'योगः कर्मसु कौशलम्' इन सब परिभाषाओं की समन्विति है। हरिभद्रसूरि महान् तार्किक-प्रतिभा-संपन्न थे। फिर भी उनका मत यह था कि प्रेक्षावान् मनुष्यों को तत्त्वसिद्धि के लिए अध्यात्म-योग का ही सह रा लेना चाहिए। वाद-ग्रन्थ उनके लिए पर्याप्त नहीं है।

आत्मा का अनुभव उन व्यक्तियों को होता है जो ध्यान की गहराई में उतरते हैं। ऐसे व्यक्ति बहुत कम होते हैं। साधारण जन अनुगमन करता है। अनुगमन करने वालों में न अपना अनुभव होता है और न किसी सत्य का साक्षात्कार। इसलिए वे अपनी अनुभूति से नहीं चलते। वे दूसरों की अनुभूति को मानकर चलते हैं। धर्म के क्षेत्र में ऐसे लोगों की बहुलता होती है तब अध्यात्म की ज्योति वाद-विवाद की राख से ढक जाती है। जैन आचार्यों ने समन्वय की धारा को प्रवाहित कर अध्यात्म की ज्योति को प्रज्वलित रखने का महत्त्वपूर्ण प्रयत्न किया है। अनेकान्त की दृष्टि और स्याद्वाद की भाषा उन्हें प्राप्त थी। उन्होंने उसका उपयोग कर जनता को बताया कि अध्यात्म सबका एक है। यह दिखाई देनेवाला भेद निरूपण का है। जितने निरूपण के प्रकार हैं, उतने ही नय हैं। नय सापेक्ष होते हैं। आप एक नय को दूसरे नय से निरपेक्ष कर देखते हैं तब दोनो नयों में विरोध प्रतिभासित होता है। दो नयों को समन्वित कर देखते हैं तब वे दोनो एक-दूसरे के पूरक रूप में दिखाई देते हैं, वस्तु-जगत् में कोई असंगति नहीं है। यह असंगति एकांगी दृष्टिकोण में उत्पन्न होती है। आचार्य अकलंक ने चैतन्य और अचैतन्य का समन्वय किया। उनके मतानुसार इनमें असामं-

जस्य नहीं है। ये दोनो धर्म एक साथ रहते हैं। ज्ञान और दर्शन की दृष्टि से आत्मा चेतन है। प्रमेयत्व आदि धर्मों की दृष्टि से वह अचेतन भी है। आत्मा केवल चैतन्य धर्म की दृष्टि से ही चेतन है। वह एकधर्मा नहीं है, किन्तु अनन्त-धर्मा है। शेष धर्म अचेतन हैं। इसलिए वह चेतनाचेतनात्मक है।

सिद्धसेन, समन्तभद्र, अकलंक, हरिभद्रसूरि, देवनंदी, हेमचंद्र, यशोविजयजी आदि मनीषियों ने सब दर्शनों का समन्वय कर अध्यात्म का निर्विवाद दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उन्होंने जैन-शास्त्रों में चर्चित विषयों की सांख्य, बौद्ध आदि दर्शनों से तुलना की और उनमें चर्चित विषयों की जैन दर्शन से तुलना की। आचार्य सिद्धसेन ने दर्शनों का अनेकान्त दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद यह मत प्रकट किया कि जिन दर्शनों को मिथ्या माना जा रहा है, वे एकांगी दृष्टि से देखने पर मिथ्या हैं। सापेक्ष दृष्टि से देखा जाए तो मिथ्या प्रतिभासित होने वाले सारे दर्शन समन्वित होकर एक सम्यक् दर्शन का निर्माण कर देते हैं। जैन दर्शन सापेक्षवादी दर्शन है। इस आधार पर उन्होंने एक परिभाषा निर्मित की—मिथ्या-दर्शनों का समूह ही जैन दर्शन है। इस युक्ति को सामने रखकर कुछ आधुनिक विद्वानों ने यह धारणा प्रसारित की है कि जैन दर्शन का मौलिक देय कुछ भी नहीं है। उसने दूसरे दर्शनों से उधार लेकर अपने दर्शन को प्रतिष्ठित किया है। यह सच है कि जैन आचार्यों ने दूसरे दर्शनों के उपयोगी तत्त्वों को स्वीकार किया है। इसका अर्थ यह नहीं होता कि उसका कोई मौलिक आधार नहीं है। पड़ोसी दर्शन एक-दूसरे के विचारों को ग्रहण करते ही हैं। जैन आचार्यों ने अनेकान्तवादी होने के कारण दूसरे दर्शनों के दृष्टिकोण को मुक्त-भाव से अपनाया। इससे उनके दर्शन की आधारहीनता प्रकट नहीं होती, उनकी समन्वय-भावना ही प्रकट होती है।

हरिभद्रसूरि ने 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में परस्पर-विरोधी प्रतिभासित होने वाले दार्शनिक तत्त्वों का अद्भुत समन्वय किया है। उनका वह ग्रन्थ समन्वय-ग्रन्थों में अद्वितीय है। उनका निश्चित सिद्धान्त था कि अध्यात्मचेता विद्वान् के लिए कोई भी सिद्धान्त अपना या पराया नहीं होता। जो सिद्धान्त प्रत्यक्ष और अनुमान से अबाधित होता है, वही उसका अपना सिद्धान्त होता है। यह

दृष्टिकोण अध्यात्म के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण उन्मेष है।

व्यवहार जगत् नाम और रूप से आक्रान्त होता है। अध्यात्म में गुण की ही प्रतिष्ठा होती है। आचार्य हेमचंद्र ने सोमनाथ के मंदिर में शिवलिंग के समक्ष चिन्तन की मुक्तधारा प्रवाहित की। उससे उनके प्रतिस्पर्धी भी नतमस्तक हो गए। उन्होंने कहा, 'भव-बोज के अंकुर को पैदा करने वाले राग और द्वेष क्षोण हो चुके हैं, उस वीतराग आत्मा को मैं नमस्कार करता हूं, फिर उसका नाम ब्रह्मा, विष्णु, महादेव या जिन कुछ भी हो।'

वीतरागता और अनेकान्त, ये दोनों अध्यात्म के प्रकाश-स्तम्भ हैं। वीतरागता आत्मा का शुद्ध रूप है। उसकी अनुभूति का क्षण ही आत्मोपलब्धि का क्षण है। अनेकान्त सत्य के साक्षात्कार का सशक्त माध्यम है। आचार्य हेमचंद्र ने अपने संपूर्ण आत्मविश्वास के साथ कहा—'सब प्रतिपक्ष मेरे साक्षी हैं। मैं उनके समक्ष यह उदार घोषणा करता हूं कि वीतराग से अधिक कोई देव नहीं है और अनेकान्त के अतिरिक्त कोई नय नहीं है।'

अध्यात्म के कल्पवृक्ष की शाखाएं तीन हैं—सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यग् चारित्र्य। ज्ञान और दर्शन का समन्वित रूप दर्शन है। चारित्र्य धर्म है। दर्शन और धर्म—ये दोनों शाखाएं अध्यात्म से अविच्छिन्न रहती हैं तब सत्य को अभिव्यक्ति मिलती है और वर्तमान जीवन में प्रकाश को रश्मियां फूटती हैं। जब दर्शन और धर्म अध्यात्म से विच्छिन्न हो जाते हैं तब सत्य आवृत हो जाता है और वर्तमान अंधकार से भर जाता है। पौराणिक काल में धर्म की धारणाएं बदल गईं। उसका मुख्य रूप पारलौकिक हो गया। वह वर्तमान से कटकर भविष्य से जुड़ गया। जन-मानस में यह धारणा स्थिर हो गई कि धर्म से परलोक सुधरता है, स्वर्ग मिलता है, मोक्ष मिलता है। इस धारणा ने जनता को धर्म की वार्तमानिक उपलब्धियों से वंचित कर भविष्य के सुनहले स्वप्नों के जगत् में प्रतिष्ठित कर दिया।

भगवान् महावीर ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था—'धर्म का फल वर्तमान काल में ही होता है। जिस क्षण में उसका आचरण किया जाता है, उसी क्षण में कर्म का निरोध या क्षय होता है। धर्म का मुख्य फल यही है।' जिसके कर्म का निरोध या क्षय

होता है उसका चित्त निर्मल, वृत्तियां शांत, इन्द्रियां प्रशान्त, और व्यवहार पवित्र होता है। उसके मन में स्वर्ग का प्रलोभन और नरक का भय जागृत ही नहीं होता है। पुण्यवादी धारा के प्रवाह में यह व्याख्या अगम्य हो रही थी तब उमास्वाति ने एक नया चिंतन प्रस्तुत किया—‘स्वर्ग के सुख परोक्ष हैं, अतः उनके बारे में तुम्हें विचिकित्सा हो सकती है। मोक्ष का सुख उनसे भी अधिक परोक्ष है। अतः उसके विषय में भी तुम संदिग्ध हो सकते हो। किन्तु धर्म से प्राप्त होने वाला शांति का सुख प्रत्यक्ष है। इसे प्राप्त करने में तुम स्वतंत्र हो। यह अर्थ-व्यय से प्राप्त नहीं होता किन्तु आत्मानुभूति में प्रवेश करने से प्राप्त होता है।’

‘तुम कहते हो, मरने के बाद मोक्ष मिलता है किन्तु यह सच नहीं है। जो वर्तमान क्षण में नहीं मिलता, वह मरने के बाद कैसे मिलेगा? यदि तुम्हें वर्तमान क्षण में मोक्ष की अनुभूति नहीं तो मरने के बाद भी मोक्ष नहीं मिल सकता। इसी जीवन में और इसी क्षण में मोक्ष हो सकता है, यह बहुत ही आश्चर्यकारी बात है। लोगों की धारणा के सर्वथा विपरीत है। किन्तु आचार्य ने बताया—‘जो व्यक्ति जाति, कुल, बल, रूप, ऐश्वर्य और ज्ञान के मद को निरस्त कर देता है, कामवासना पर विजय पा लेता है, कायिक, वाचिक और मानसिक विकृतियों से शून्य हो जाता है और आकांक्षा से मुक्ति पा लेता है, उसे इसी जन्म में और इसी क्षण में मोक्ष प्राप्त हो जाता है।’

सामाजिक जीवन में अनैतिकता का प्रवेश आर्थिक प्रलोभन के कारण होता है। हर मनुष्य जानता है कि जिसने जन्म लिया है, उसकी मृत्यु निश्चित है। मृत्यु के बाद क्या होगा—यह प्रश्न भी हर आदमी के सामने उभरता है। कुछ लोग पुनर्जन्म को अस्वीकार करते हैं, किन्तु बहुत लोग उसे स्वीकार करते हैं। उसे स्वीकार करने वाले भावी जीवन को वर्तमान जीवन से उत्कृष्ट चाहते हैं। उसके लिए वे धर्म की शरण में आते हैं। धर्म का मौलिक रूप है—इन्द्रिय का संयम, मन का संयम, समता का अभ्यास, विशुद्ध आचरण और अर्जित संस्कारों को क्षीण करने के लिए ज्ञानपूर्ण तप। यह मार्ग दुर्गम प्रतीत होता है। जनता को सरल मार्ग चाहिए। धर्म के प्रवक्ताओं में जैसे-जैसे लोकैषणा का भाव प्रबल हुआ, वैसे-

वैसे उन्होंने धर्म को सरलता की दिशा में ले जाने का प्रयत्न किया। फलतः आचार-धर्म या संयम-धर्म का स्थान उपासना-धर्म ने ले लिया। यह सरल होने के कारण जनसाधारण को अपनी ओर अधिक आकृष्ट कर सका। भगवान् की भक्ति, नाम का जप और पूजा करने में पारलौकिक जीवन को उत्कर्ष का आश्वासन है और आचार-शुद्धि, व्यवहार-शुद्धि तथा इन्द्रिय-संयम के लिए किया जाने वाला तीव्र अध्यवसाय और पुरुषार्थ भी अपेक्षित नहीं है। धर्म की इस धारणा ने धार्मिक की संख्या में बाढ़ ला दी, किन्तु धर्म-चेतना को सीमित कर दिया। आज यह प्रश्न पूछा जाता है कि इतने धर्मों के होने पर भी मनुष्य इतना अशांत क्यों? इतना क्रूर क्यों? इतना अनैतिक क्यों? उपासना-प्रधान धर्म के पास इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं है। संयम-प्रधान धर्म इन प्रश्नों का उत्तर दे सकता था, किन्तु वह वर्तमान में धर्म के सिंहासन पर आसीन नहीं है। आचार्य हेमचंद्र ने धर्म की इसी स्थिति पर चिंतन किया और उन्होंने अनुभव की भाषा में लिखा—‘वीतराग! तुम्हारी पूजा करने की अपेक्षा तुम्हारे आदेशों का पालन करना अधिक महत्वपूर्ण है। तुम्हारे आदेशों का पालन करने वाला सत्य को प्राप्त होता है और उनका पालन नहीं करने वाला भटक जाता है।’ प्रश्न उपस्थित हुआ, वीतराग का आदेश क्या है? आचार्य ने उत्तर दिया—उनका आदेश है, संवर—मन का संवरण, वाणी का संवरण, काया का संवरण और श्वास का संवरण।

धर्म की इस धारा के विकास से धार्मिकों की संख्या सीमित हो सकती है किन्तु धर्म-चेतना को व्यापक होने की स्फूर्ति मिलेगी। यह रूपान्तर धर्म को अध्यात्म के कल्पवृक्ष से विच्छिन्न नहीं होने देगा और उसके सामने प्रस्तुत प्रश्नों का सक्रिय समाधान दे सकेगा।

धर्म का सूत्र

आत्मा से आत्मा को देखो—यह धर्म का सूत्र है। राजनीति का सूत्र इससे भिन्न होता है। उसका सूत्र है—दूसरों को देखो। जो आत्मा को देखता है, आत्मा की आवाज सुनता है और आत्मा की वाणी बोलता है, वह धार्मिक होता है। इसीलिए उमास्वाति ने धार्मिक को दूसरों की दृष्टि से अन्ध, बधिर और मूक कहा है। उपाध्याय यशोविजयजी ने इस चिन्तन को मार्मिक ढंग से विकसित

किया। उन्होंने लिखा—‘जो साधक आत्मा की प्रवृत्ति में जागरूक और पर-प्रवृत्तियों के लिए अन्ध, मूक और बधिर है, वही समत्व को प्राप्त कर सकता है।’ गांधीजी के तीन बंदरों के संदर्भ को इन प्राचीन उक्तियों में खोजा जा सकता है।

समता की अनुभूति का उत्स आत्म-दर्शन है। उसका आचरण आत्मदशा में ही प्रस्फुटित होता है। आचार्य सोमदेव समता के आचरण को सब आचरणों में श्रेष्ठ बतलाते हैं। उन्होंने राजनैतिक और सामाजिक जीवन में भी समता के आचरण को प्रतिष्ठित करने की बात कही। किन्तु उसको व्यावहारिक रूप नहीं मिला।

धर्म सम्प्रदायों में विभक्त हो चुका था। फलतः सामाजिक स्तर पर होने वाला विकास साम्प्रदायिक स्तर पर हो नहीं सका। हर सम्प्रदाय अपनी सम्मत विधियों को समाज में लागू करना चाहता था। शैव सम्प्रदाय के उत्कर्ष-काल में जैनों और बौद्धों को शैव पद्धतियों को अपनाने के लिए बाध्य किया गया। बौद्धों ने इस स्थिति को मान्य नहीं किया। बहुत सारे जैनों ने भी उसे मान्यता नहीं दी। कुछ जैन मुनि मध्यम मार्ग के पक्ष में थे। उन्होंने समझौता-वादी मनोवृत्ति अपनायी और नया चिन्तन प्रस्तुत किया। उस चिन्तन के पीछे तीन दृष्टियां परिलक्षित होती हैं—

१. समन्वय की मनोवृत्ति।
२. सामाजिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता का सिद्धांत।
३. शैवों के बढ़ते हुए प्रभाव की स्थिति में जैन परम्परा को बनाए रखना।

जैन धर्म में दीक्षित व्यक्ति को समन्वय का संस्कार सहज ही मिलता है। समन्वयवादी विरोध में भी अविरोध खोजता है। अनेकांत के अनुसार सर्वथा विरोध होता ही नहीं, इसलिए विरोध में भी अविरोध का स्रोत उपलब्ध हो जाता है।

भगवान् महावीर ने जीवन के शाश्वत मूल्यों की व्याख्या की। उन्होंने सामाजिक मूल्यों को परिवर्तनशील बताया। इसीलिए जैन धर्म में सामाजिक व्यवस्था का कोई विधान नहीं है। सामाजिक व्यवस्थाएं भिन्न-भिन्न होती हैं। किसी भी समाज-व्यवस्था को मानने वाला व्यक्ति धर्म को स्वीकार कर सकता है। उस स्थिति में समाज-व्यवस्था और धर्म को एक सूत्र में नहीं पिरोया जा

सकता। कुछ सम्प्रदाय धर्म को जाति का रूप दे रहे थे। यह संगठन के लिए उचित हो सकता है, किन्तु धर्म के लिए इसकी श्रेष्ठता नहीं साधी जा सकती। जो धर्म जाति के रूप में संगठित है, उसमें साम्प्रदायिकता, कट्टरता और आग्रह अधिक है, धर्म कम। धर्म आत्मा की पवित्र अनुभूति है, उसे व्यवस्था के स्तर पर विकसित नहीं किया जा सकता।

सोमदेवसूरि ने समन्वय की भाषा में कहा—गृहस्थ के लिए दो धर्म होते हैं—लौकिक और पारलौकिक। लौकिक धर्म लोकाश्रित है और पारलौकिक धर्म आगमाश्रित। जैनों के लिए वह समग्र लौकिक व्यवस्था प्रमाण है, जिसे मान्य करने पर सम्यक्त्व की हानि और व्रत दूषित न हो।

इस समन्वय की धारा के दो फलित हुए—सामाजिक सामंजस्य और सैद्धांतिक शैथिल्य। शैव-सम्मत समाज-व्यवस्था को मान लेने पर सामाजिक एकता का अनुभव हुआ। उस स्थिति में जैनों पर होने वाले प्रहार कम हो गए। उन्हें अपनी परम्परा को व्यवस्थित रखने का अवसर मिल गया। साथ-साथ कुछ मूल्य भी चूकाना पड़ा। जैन मुनि अब तक जातिवाद पर निरन्तर प्रहार कर रहे थे, किन्तु वैदिक समाज-व्यवस्था के साथ जुड़ जाने पर वर्ण-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था को भी धीमे-धीमे मान्यता देनी पड़ी। जैन परम्परा के हाथ से एक बड़ा क्रांतिसूत्र छूट गया—कल तक वे जिसका खण्डन करते थे, आज उसका समर्थन करने लग गए।

साधन-शुद्धि

आध्यात्मिक जगत् का साध्य है—आत्मा की पवित्रता और उसका साधन भी वही है। आत्मा की अपवित्रता कभी भी आत्मिक पवित्रता का साधन नहीं बन सकती। पहले क्षण का साधन दूसरे क्षण में साध्य बन जाता है और वही उसके अगले चरण का साधन बन जाता है। पहले क्षण का जो साध्य है, वह अगले क्षण के लिए साधन है। पवित्रता ही साध्य है और वही साधन।

साध्य और साधन की एकता के विचार को आचार्य भिक्षु ने जो सैद्धांतिक रूप दिया, वह उनसे पहले नहीं मिलता। शुद्ध साध्य के लिए साधन भी शुद्ध होने चाहिए, इस विचार को उनकी भाषा में जो अभिव्यक्ति मिली, वह उनसे पहले नहीं मिली। साध्य और

साधन की शुद्धि का सिद्धान्त अब राजनीतिक चर्चा में भी उतर आया है ।

आचार्य भिक्षु ने दो शताब्दी पूर्व कहा था—शुद्ध साध्य का साधन अशुद्ध नहीं हो सकता और शुद्ध साधन का साध्य अशुद्ध नहीं हो सकता । मोक्ष साध्य है और उसका साधन है संयम । वह संयम के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है । जो व्यक्ति लड्डुओं के लिए तपस्या करते हैं, वे कभी भी धर्मी नहीं हैं और इस उद्देश्य से तपस्या करने वालों को जो लड्डू खिलाते हैं, वे भी धर्मी नहीं हैं ।

जो साधन अच्छे नहीं होते वे साध्य का ही अंत कर देते हैं—इसका उदाहरण आचार्य भिक्षु ने प्रस्तुत किया है । देव, गुरु और धर्म की उपासना धार्मिक का साध्य है । उपासना का साधन है अहिंसा । किंतु जो व्यक्ति हिंसा के द्वारा उनकी उपासना करता है, वह उपासना के मार्ग से भटक जाता है । जो हिंसा के द्वारा धर्म करना चाहता है, वह मिथ्यादृष्टि है । सम्यग्दृष्टि वह है जो धर्म के लिए हिंसा नहीं करता ।

लोहू से लिपटा हुआ पीताम्बर लोहू से साफ नहीं होता । इसी प्रकार हिंसा से हिंसा का शोधन नहीं होता ।

वर्तमान राजनीति में दो प्रकार की विचारधाराएं हैं—साम्यवादी और इतर साम्यवादी । जनता का जीवन-स्तर ऊंचा करना दोनों का लक्ष्य है पर पद्धतियां दोनों की भिन्न हैं ।

साम्यवादी विचारधारा यह है—लक्ष्य की पूर्ति के लिए साधन की शुद्धि का विचार आवश्यक नहीं है । लक्ष्य यदि अच्छा है तो उसकी पूर्ति के लिए बुरे साधनों का प्रयोग भी आवश्यक हो तो वह करना चाहिए । एक बार थोड़ा अनिष्ट होता है और आगे इष्ट अधिक होता है । गांधीवादी विचार यह है कि जितना महत्त्व लक्ष्य का है उतना ही साधन का । लक्ष्य की पूर्ति येनकेन-प्रकारेण नहीं, किंतु उचित साधनों के द्वारा ही करनी चाहिए ।

आचार्य भिक्षु के समय में भी साधन-शुद्धि के विचार को महत्त्व न देने वाली मान्यता थी । उसके अनुयायी कहते थे—प्रयोजनवश धर्म के लिए भी हिंसा का अवलम्बन लिया जा सकता है । एक बार थोड़ी हिंसा होती है, किंतु आगे उससे बहुत धर्म होता है ।

आचार्य भिक्षु ने इसे मान्यता नहीं दी। उन्होंने कहा—बाद में धर्म या पाप होगा, इससे वर्तमान अच्छा या बुरा नहीं बनता। कार्य की कसौटी वर्तमान ही है।

जिसके मन में दया का भाव उठा, उसके लिए दया का साधन है उपदेश। और जिसके मन में दया का भाव उत्पन्न करना है उसके लिए दया का साधन है हृदय-परिवर्तन। आत्मवादी का साध्य है मोक्ष - आत्मा का पूर्ण विकास। उसके साधन हैं—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य। अज्ञानी को ज्ञानी, मिथ्यादृष्टि को सम्यक्दृष्टि और असंयमी को संयमी बनाना साध्य के अनुकूल है।

यह साध्य और साधन की संगति है। इनकी विसंगति तब होती है जब या तो साध्य अनात्मिक होता है या साधन।

हृदय-परिवर्तन

मनुष्य की प्रवृत्ति के निमित्त तीन हैं—शक्ति, प्रभाव और सहजवृत्ति। सत्ता से शक्ति, सम्बन्ध से प्रभाव और हृदय-परिवर्तन से सहजवृत्ति का उदय होता है। शक्ति राज्य-संस्था का आधार है। प्रभाव समाज-संस्था या भौतिक जीवन का आधार है। सहजवृत्ति हृदय की पवित्रता का आधार है। शक्ति से प्रेरित हो मनुष्य को कार्य करना पड़ता है। प्रभाव से प्रेरित होकर मनुष्य सोचता है कि वह कार्य मुझे करना चाहिए। सहजवृत्ति से प्रेरित हो मनुष्य सोचता है कि यह कार्य करना मेरा धर्म है। सब लोग अहिंसक या मोक्षार्थी हो जाएं यह कल्पना ठीक है, पर सबको अहिंसक या मोक्षार्थी बना देंगे, यह शक्ति का सूत्र है। हमें यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होगी कि शक्ति के धागे में सबको एक साथ बांधने की क्षमता है पर उससे व्यक्ति के स्वतन्त्र मनोभाव का विकास नहीं होता। वह व्यक्ति-व्यक्ति की चारित्रिक अयोग्यता का निदर्शन है। आपसी सम्बन्धों से प्रभावित होकर जो अहिंसक बनता है, वह अहिंसा की उपासना नहीं करता। वह सम्बन्धों को बनाए रखने की प्रक्रिया है। प्रभाव मनुष्यों को बांधता है पर वह मानसिक अनुभूति की स्थूल रेखा है, इसलिए उसमें स्थायित्व नहीं होता।

मोहाणुओं तथा पदार्थों से प्रभावित व्यक्ति जो कार्य करते हैं उसके लिए हम अहिंसा की कल्पना ही नहीं कर सकते। शक्ति

के दबाव और बाहरी प्रभाव से रिक्त मानस में जो आत्मौपम्य का भाव जागता है, वह हृदय-परिवर्तन है। हृदय वही होता है, उसकी वृत्ति बदलती है, इसलिए उसे हृदय-परिवर्तन कहा जाता है। शक्ति और प्रभाव से दबकर जो हिंसा से बच जाता है, वह हिंसा का प्रयोग भले न हो, किन्तु वह हृदय की पवित्रता नहीं है, इसलिए उसे हृदय-परिवर्तन नहीं कहा जा सकता।

अहिंसा का आचरण वही कर सकता है जिसका हृदय बदल जाए। अहिंसा का आचरण किया जा सकता है किन्तु कराया नहीं जा सकता। अहिंसक वही हो सकता है जो अपने को बाहरी वातावरण से सर्वथा अप्रभावित रख सके। बाहरी वातावरण से हमारा तात्पर्य शक्ति, मोहाणु और पदार्थ से है। इनमें से किसी एक से भी प्रभावित आत्मा हिंसा से नहीं बच सकती।

आक्रमण के प्रति आक्रमण और शक्ति-प्रयोग के प्रति शक्ति-प्रयोग कर हम हिंसा के प्रयोगात्मक रूप को टालने में सफल हो सकें, यह सम्भव है, पर वैसा कर हम हृदय को पवित्र कर सकें या करा सकें यह सम्भव नहीं है। आचार्य भिक्षु ने कहा—शक्ति के प्रयोग से जीवन की सुरक्षा की जा सकती है, पर वह अहिंसा नहीं है। अहिंसा का अंकन जीवन या मरण से नहीं होता, उसकी अभिव्यक्ति हृदय की पवित्रता से होती है।

नैतिकता

भगवान् महावीर ने गृहस्थ के लिए जो आचार-संहिता निर्धारित की उसमें नैतिकता का मुख्य स्थान है। गृहस्थ सामाजिक प्राणी है। वह समाज में जीता है। उसका व्यवहार समाज को प्रभावित करता है। अध्यात्म वैयक्तिक है। उसका व्यवहार में पड़ने वाला प्रतिबिम्ब वैयक्तिक नहीं होता, वह सामाजिक हो जाता है। धार्मिक व्यक्ति अपने अन्तःकरण में आध्यात्मिक रहे और व्यवहार में पूरा अधार्मिक, यह द्वैध अध्यात्म का लक्षण नहीं है। अध्यात्म आन्तरिक वस्तु है। उसे हम नहीं देख सकते। उसका दर्शन व्यवहार के माध्यम से होता है। जिस व्यक्ति का व्यवहार शुद्ध, निश्छल और करुणापूर्ण होता है, वह व्यक्ति आध्यात्मिक है। उसका व्यवहार अध्यात्म को बाह्य जगत् में प्रतिबिम्बित कर देता है। किन्तु जैसे-जैसे धर्म के क्षेत्र में बहिर्मुखी भाव बढ़ता गया, वैसे-

वैसे धार्मिक का व्यक्तित्व विरूप बनता गया—एक रूप उपासना के समय का और दूसरा रूप सामाजिक व्यवहार के समय का। एक ही व्यक्ति उपासना के समय वीतराग की प्रतिमूर्ति बन जाता है और दुकान या कार्यालय में क्रूर बन जाता है। आचार्यश्री तुलसी ने धर्म के क्षेत्र में पनप रही इस द्विरूपता पर चिन्तन कर धर्मक्रांति की आवाज उठाई। उसकी क्रियान्विति के लिए अणुव्रत का कार्यक्रम प्रस्तुत किया। उसकी पृष्ठभूमि में उनका चिन्तन शाश्वत होने के साथ-साथ बहुत ही युगीन है। अनैतिक का मूल हेतु वैषम्य है। साम्य की स्थिति का निर्माण किए बिना नैतिकता को विकसित नहीं किया जा सकता।

सर्वधर्म-समभाव और शास्त्रज्ञ

भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय धर्म के भिन्न-भिन्न स्वर उच्चारित कर रहे थे। धार्मिक जनता बहुत असमंजस में थी। किस स्वर में धर्म का स्पर्श है और किसमें नहीं, यह निर्णय बहुत कठिन हो रहा था। प्रत्येक स्वर की पुष्टि के लिए पुराने शास्त्रों को साक्ष्य दिए जा रहे थे। उनके समर्थन में नये शास्त्र और नये भाष्य लिखे जा रहे थे। इस शास्त्राकीर्ण धर्म में जनता का प्रवेश नहीं हो रहा था। उस स्थिति में स्याद्वाद के अनुचिन्तक मनीषियों ने धर्म और शास्त्र के विषय में नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उपाध्याय यशोविजयजी ने शास्त्रज्ञ की पहचान के लिए तीन मानदण्ड प्रस्तुत किए—अनेकांत, मध्यस्थभाव और उपशम—कषाय की शांति। उन्होंने कहा—‘जो व्यक्ति मोक्ष को दृष्टि में रखते हुए अनेकान्त चक्षु से सब दर्शनों की तुल्यता को देखता है, वही शास्त्रज्ञ है।

मनुष्य में झुकाव की मनोवृत्ति होती है। वह अपने अनुकूल चिन्तन और तर्क के प्रति झुक जाता है। झुकाव का कारण राग और द्वेष है। जिसमें राग-द्वेष के उपशमन की साधना नहीं होती, वह मध्यस्थ या तटस्थ नहीं हो सकता। मध्यस्थ भाव को प्राप्त किए बिना कोई भी व्यक्ति शास्त्रज्ञ नहीं हो सकता। उपाध्यायजी ने बताया—‘माध्यस्थ्य भाव से युक्त एक पद का ज्ञान भी प्रमाण है। माध्यस्थ्य-शून्य शास्त्र-कोटि भी व्यर्थ है।’ उनकी भाषा में मध्यस्थ भाव ही शास्त्र का अर्थ है। वह मध्यस्थ भाव से ही सही रूप में जाना जाता है।

शास्त्रज्ञ लोग धर्मवाद के स्थान पर विवाद को महत्त्व दे रहे थे। उनको लक्ष्य कर कहा गया—

‘शमार्थं सर्वशास्त्राणि, विहितानि मनीषिभिः।

स एव सर्वशास्त्रज्ञः, यस्य शान्तं सदा मनः॥’

‘मनीषियों ने शास्त्रों का निर्माण शान्ति के लिए किया। सब शास्त्रों को जानने वाला वही है जिसका मन शान्त है।’

धर्म के नाम पर अशान्ति को उभारने वाला शास्त्रज्ञ नहीं हो सकता। जो स्वयं अशान्त है, वह भी शास्त्रज्ञ नहीं हो सकता।

शास्त्रीय आग्रह करने वाले चिन्तन के विकास में विश्वास नहीं करते। किन्तु वास्तविकता यह है कि विचार का बीज उर्वर मस्तिष्क में विकसित होता रहता है। मैंने विचार-बीज के विकास का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत किया है। व्यापक सन्दर्भ में इसके शत-शत पल्लवन देखे जा सकते हैं।

